'मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में स्त्री चेतना'

एम.फिल. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
लघु शोध-प्रबन्ध

शोध निर्देशक
प्रो0 मैनेजर पांडेय

शोधार्थी
कंचन भारद्वाज

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES

SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES

NEW DELHI - 110067

Dated : 22 July 2002

DECLARATION

I declare that the material in this M.Phil. Dissertation entitled **'मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में स्त्री चेतना' (MAITREYI PUSHPA KE UPANYAS 'CHAK' ME STREE CHETANA)** submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other Degree of this or any other University/Institution.

Kanchan Bhardwaj

KANCHAN BHARDWAJ
(Research Scholar)

(PROF. MANAGER PANDEY)
SUPERVISOR
CIL/SLL & CS/JNU

(PROF. MANAGER PANDEY)
CHAIRPERSON
CIL/SLL & CS/JNU

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i-iii
अध्याय – 1 :	
हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखन और स्त्री चेतना का विकास	1–11
अध्याय – 2 :	
मैत्रेयी पुष्पा के कथा–साहित्य में स्त्री चेतना का विकास	12–42
अध्याय – 3 :	
'चाक' उपन्यास में स्त्री चेतना	43–72
अध्याय – 4 :	
चाक : कथा संरचना और भाषा	73–85
अध्याय – 5 :	
समकालीन हिन्दी स्त्री लेखन में स्त्री चेतना और मैत्रेयी पुष्पा का लेखन	86–102
उपसंहार	103–107
ग्रंथानुक्रमणिका	108–112
पत्रिकाएँ एवं समाचार पत्र	112–113

❐

भूमिका

स्त्री–जीवन के अनुभवों से गुजरते हुए समाज के पक्षपातपूर्ण रवैये को पहचानती मध्यवर्गीय समाज की सुशील लड़की के सपने कल्पना में भी पूर्ण स्वरूप ले पायें, इससे पहले ही नैतिक संस्कार बोध उसे परिवार की सर्वोपरि इच्छाओं की सीमा में कैद कर देता है। यही एकमात्र कारण, शिक्षा के प्रसार के बावजूद स्त्रियों की अस्मिता की तलाश में बाधा बनता है। किन्तु सब की सब 'संस्कारित, सभ्य, सुशील' लड़कियाँ इसे अपनी नियति मानकर स्वयं को गौरवान्वित करती हैं। भारतीय समाज के मध्यवर्गीय परिवार के ऐसे ही परिवेश से मेरा आमना–सामना रहा है। शिक्षा के दौरान साहित्य के क्षेत्र में गढ़ी गई जो स्त्रियाँ मिलीं, वह भी अबला दुःखी, शोषित ही अधिक मिलीं या फिर पश्चिमी फेमिनिज्म की तेज हवा में देह–मुक्ति तलाशती, एकाकी जीवन जीती स्त्रियाँ मिलीं। ये दोनों ही तरह की स्त्रियाँ मुझे अपने आस–पास की स्त्रियों से अलग लगतीं, क्योंकि प्रत्येक स्त्री कभी न कभी अपने तरीके से प्रत्यक्ष या परोक्ष रास्ता अपने लिए अवश्य तलाश लेती है। दादी और नानी के वैधव्य जीवन के दुःखद और साहसपूर्ण प्रसंग तथा विवाहित स्त्रियों का पति से डरना इत्यादि प्रसंगों ने मुझे मैत्रेयी–पुष्पा से एकलय होने को बार–बार प्रेरित किया। क्योंकि उनकी रचनाओं की स्त्रियाँ अपने आस–पास की स्त्रियाँ लगती रहतीं।

लड़कपन से परिपक्व मनोदशा के बीच विकासशील अवस्था में परिवार की इच्छा सर्वोपरि होने में ही सुख तलाशने वाली लड़की के कानों में 'एक आवाज' ने गूँज भर दी। संकेत दिया अपने बारे में सोचने का। तब आत्मसजगता ने स्त्री–साहित्य के पन्नों में वह चेतस स्त्री तलाशनी शुरू की जो जीवन के यथार्थ धरातल पर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए संघर्ष कर सके।

तभी एकाएक 'चाक' (97) की समीक्षा मिली। फिर उपन्यास पढ़ा और धीरे–धीरे मैत्रेयी–पुष्पा की समस्त रचनाएँ सामने आयीं। अध्ययन के इस क्रम में अन्य स्त्री लेखिकाओं की रचनाएँ भी सामने आयीं। किन्तु भारतीय समाज की स्त्री का प्रतिनिधित्व करती, और संघर्ष करके अपनें स्वतंत्र व्यक्तित्व को तलाशती, अपनी मुक्ति के साथ–साथ पूरे समाज की मुक्ति की बात करती 'स्त्री' मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में मिली। तब मुझे अपने लघु शोध–प्रबंध हेतु यही विषय उपयुक्त लगा।

जितने उत्साह के साथ यह विषय चुना था, उसे पूर्ण करने में उतनी ही मुश्किलें सामने आयीं। कारण, अपने भीतर की डरती मध्यवर्गीय स्त्री सोचती कि 'लिखना' तो चरित्र का प्रमाण–पत्र तय करेगा। भारतीय समाज के 'साक्षात्कारों' में अनुत्तीर्ण हो जाने का भय मुझे हराने लगा। तब लेखिका मैत्रेयी पुष्पा की दृष्टि और मेरे निर्देशक प्रो0 मैनेजर पाण्डेय के 'चुनौतीपूर्ण शब्दों' ने मुझे इस संकट से उबारने में मदद की – 'अगर साक्षात्कार में सती होने को कहा जाये, तो हो जाओगी?' निश्चित ही इसके बाद मैंने जीवन की यह चुनौती स्वीकार की और मानवी होने के नाते स्त्री के उन अधिकारों का समर्थन किया जिससे वह वंचित रहती है। वर्जित क्षेत्रों में जाने पर लांछित की जाती स्त्री को मनुष्य होने के नाते उसके अधिकारों के साथ सामने रखने में मैंने अपना भय भी उसी तरह मुक्त किया जैसा लेखिका मैत्रेयी ने 'चाक' लिखने के पहले किया।

अब यह लघुशोध प्रबंध सामने है। इसमें पाँच अध्याय हैं – प्रथम अध्याय, 'हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखन और स्त्री चेतना का विकास' में हिन्दी साहित्य में स्त्री चेतना के विकास के स्तरों पर चर्चा की गई है। द्वितीय अध्याय, 'मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में स्त्री चेतना के विकास' में उनके कहानी संग्रहों तथा सभी उपन्यासों में स्त्री चेतना पर चर्चा की गई है। तथा यह भी कि लेखन के दस वर्षों में रचनाओं में स्त्री चेतना के विकास क्रम में लेखिका के अपने भीतर की स्त्री की चेतना का विकास भी हुआ है। अध्याय तीन, 'चाक में स्त्री चेतना' में उपन्यास 'चाक' में मौजूद स्त्री–चेतना पर विस्तृत चर्चा की गई है। अध्याय चार, 'चाक की कथा–संरचना और

भाषा' में 'चाक' उपन्यास में भाषा के लिंगभेदीय स्तरों की पहचान तथा लोक–भाषा के तत्वों की जाँच पड़ताल की गई है तथा कथा की संरचना पर भी विचार किया गया है। अध्याय पाँच, 'समकालीन हिन्दी स्त्री लेखन में स्त्री चेतना और मैत्रेयी पुष्पा का लेखन', में मैत्रेयी पुष्पा के लेखन की विशिष्टताओं को, जो अन्य समकालीन लेखिकाओं से भिन्न हैं, को स्पष्ट किया गया है।

इस लघु शोध–प्रबंध को पूरा करने में मित्रों से जो वार्ताएं होती रहीं उस हेतु मैं धन्यवाद करना आवश्यक नहीं समझती क्योंकि मित्र केवल 'धन्यवाद' के कारण ही मित्र नहीं होते। लेखिका मैत्रेयी पुष्पा की दृष्टि और स्नेह तथा प्रो0 मैनेजर पाण्डेय की स्पष्ट सामाजिक आलोच्य दृष्टि एवं निर्देशन के बिना यह लघु शोध–कार्य पूर्ण होना असंभव था। किन्तु उनके प्रति आभार ज्ञापित करके मैं उनके प्रति उऋण नहीं होना चाहती। बेशक टाइपिस्ट 'झा' परिवार के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुझे सहयोग किया।

कंचन भारद्वाज

प्रथम अध्याय

हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखन और स्त्री चेतना का विकास

'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता' कहने वाले भारतीय समाज ने स्त्री को पूज्य बनाकर उसे पत्थरवत माना और पुरूषों को देवता के पद पर बिठाकर कर्ता–धर्ता बनाकर सब कुछ करने के अधिकार उसके हाथों में सौंप दिए गए। भोग्या बनकर अनुचरी जीवन जीती स्त्री को पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था ने कठोर बन्धनों में जकड़े रखा। अपनी आवाज दर्ज कराकर अस्तित्व–बोध करने की अनुमति उसे पुरूष प्रधान समाज ने नहीं दी। किन्तु स्त्री के प्रकृति प्रदत्त सृजनशील स्वभाव ने अपने लिए स्वयं ऐसा संसार सृजित किया जहाँ वह स्वतंत्र साँसें ले सके, स्वच्छंद जीवन जी सके। स्त्री की आत्म सजगता ने उसे अपनी और आस–पास की स्थितियों के प्रति चेतस किया। स्त्री ने अपनी सृजन–क्षमता से अपनी चेतना को वाणी दी और परिस्थितियों के प्रति अपना विरोध दर्ज कराते हुए स्थितियों को ही चुनौती दे डाली।

लेखन में आत्मसजगता की अभिव्यक्ति करके स्त्री ने एक ऐसा माध्यम चुना जहाँ वह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरीकों से अपनी बात कहने की सुविधा पा सके ताकि अपने जीवन को भी सुरक्षित बचा सके। भारतीय समाज में सुशील, कुलीन स्त्रियों को बोलने की आजादी नहीं होती। बोलती तो केवल निम्नवर्गीय स्त्रियाँ हैं। कुलीन सभ्य स्त्री अगर बोलने लगे तो उसे कुलटा और अनैतिक घोषित करने में पल–भर की देरी भी पुरूष–प्रधान समाज में नहीं होती। और तब स्त्री जिंदगी और मौत के सवाल से जूझती समझौता कर लेती है या फिर मूक बछिया की तरह मौत के घाट उतार दी जाती है।

लेखन के माध्यम से जब स्त्री स्वयं अपनी आत्मसजगता की अभिव्यक्ति करने लगी, तब 'स्त्री–चेतना' उसकी रचनाओं में मुखरित होकर सामने आने लगी। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्त्री–चेतना के विकास के कई स्तर मिलते हैं। समय–समय पर स्त्री–चेतना की अभिव्यक्ति के स्वरूप में परिवर्तन भले ही मिलता है, लेकिन पराधीनता की पीड़ा और मुक्ति की आकांक्षा के बीच छटपटाती स्त्री द्वारा त्रासद

स्थितियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष नकार उन रचनाओं में निश्चित ही पाया जाता है। मध्यकालीन युग में मीराबाई एवं अन्य भक्त कवयित्रियाँ भक्ति–मार्ग अपना सामाजिक–व्यवस्था के साथ जो टकराहट ले रही थीं, वह उनमें मौजूद प्रखर चेतना का प्रमाण देती है। इस परिप्रेक्ष्य में चंद्रा सदायत की टिप्पणी गौरतलब है – "पराधीनता के बोध से बेचैन और स्वाधीनता की आकांक्षा से प्रेरित स्त्री की आवाज, जिसे आजकल स्त्री चेतना कहा जाता है उसकी सशक्त अभिव्यक्ति पहली बार हिन्दी में मीरा के काव्य में मिलती है।"[1] मीरा का काव्य सामंती विचारधारा का प्रखर विरोध करता हैं प्रखर चेतना के साथ निजी जीवन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोही तेवर मीरा की कविता में मिलता है। जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है – "स्त्री के सामाजिक अधिकारों, खासकर स्त्री के मन एवं तन पर स्त्री के स्वामित्व पर वकालत करने वाली वह पहली भारतीय लेखिका हैं।"[2] सृजन के माध्यम से मीरा ने काल्पनिक पुरूष को गढ़कर "बगैर पुरूष संदर्भ के पुंसवादी समाज में स्त्री की अस्मिता की पहचान बनाने का असंभव कार्य किया। 'पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के साथ किस तरह के जुल्म होते हैं और परिवारी जनों का रवैया किस कदर अमानवीय होता है उसे सामाजिक तौर पर अभिव्यक्त करने वाली मीरा पहली भारतीय लेखिका है।"[3]

मीरा ने स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व" को गढ़ा – "बरजी मैं काहू की नाहि रहूं।" 'संत–सत्संग' का मार्ग अपनाकर "मीरा ने पहली बार स्त्रियों के सीमित सामाजिक परिवेश, बंधनों के वर्चस्व और लिंगभेदीय वर्चस्व को चुनौती दी। मीरा ने कृष्ण रूप में अपने लिए पुरूष स्वयं चुना।"[4]

स्त्री समालोचिका सावित्री सिन्हा 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' शोधग्रन्थ में मीरा से पहले की कुछ अन्य कवयित्रियाँ को सामने लायीं। जिनमें झीमाचारिणी, पद्माचरणी, काकरेची जी, बिरजूबाई आदि प्रमुख हैं। मीरा के पश्चात् की कवयित्रियों में गंगाबाई, सोनकुंवरि, वृषभानु कुंवरि, रसिक बिहारी (बनी ठणी जी), ब्रजदासी रानी (बांकावती), सुंदरिकुंवरि बाई, ताज, वीरां, छत्रकुंवरि बाई, स्वर्णलली, माधवी, रमाबाई

आदि कृष्ण काव्य की लेखिकाएं हैं तो मधुरअली, प्रताप–कुंवरिबाई, तुलछराय आदि रामकाव्य की उमा, पारवती, इन्दावती, सहजोबाई, दयाबाई आदि निर्गुणकाव्य की।

इस परिप्रेक्ष्य में जगदीश्वर चतुर्वेदी की टिप्पणी महत्वपूर्ण है – "इस काव्यधारा की लेखिकाओं ने मिथकीय चरित्रों एवं सांस्कृतिक रूपों के माध्यम से स्त्री के अनुभवों, वेदना एवं प्रतिरोध को व्यक्त किया। इस दौर की स्त्री कविता उनके राजनैतिक एवं वैचारिक संघर्ष की प्रतीक है।"[5] हिन्दी साहित्य की स्त्री लेखिकाओं के योगदान को महत्वपूर्ण मानते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी ने आगे लिखा है कि "भक्ति काव्य का श्रीगणेश पुरूषों ने नहीं स्त्री लेखिकाओं ने किया। उमा, पार्वती, मुक्ताबाई भक्ति काव्य की आदि लेखिकाएं हैं। रामानंद के 12 शिष्यों की उल्लिखित सूची में भी पद्मावती और सुरसुरी दो स्त्री कवयित्रियों के नाम भी मिलते हैं।"[6]

19वीं सदी के भारतीय समाज में स्त्री का जीवन परदा प्रथा, अशिक्षा तथा सामाजिक रूढ़ियों के कारण सती प्रथा जैसी अमानवीय प्रथाओं का शिकार होकर अत्यंत दयनीय स्थिति से गुजर रहा था। विधवाओं की स्थिति बदतर थी। तब नवजागरण काल में पुरूष सुधारकों द्वारा सुधार आंदोलन चलाकर स्त्री की दशा सुधारने हेतु प्रयास किए गये। बंगाल में राजा राममोहनराय ने सती प्रथा के विरूद्ध आंदोलन चलाया और स्त्रियों को शिक्षा और संपत्ति में हक देने की सिफारिश की। परदा प्रथा, बाल विवाह का विरोध हुआ और विधवा विवाह तथा स्त्री शिक्षा का समर्थन हुआ।

"भारत में स्त्री आंदोलन की असली शुरूआत 19वीं सदी के आखिरी दशकों में हुयी तब पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी, फ्राननना सोराबजी, एनी जगन्नाथन और रूक्माबाई जैसी औरतें अपने घरों में पुरूष प्रधान समाज द्वारा थोपे गए बंधनों को तोड़कर ऊँचो शिक्षा के लिए विदेश गईं और लौटकर उन्होंने भारत में स्त्रियों के आंदोलन को आगे बढ़ाया।"[7]

तत्कालीन समय में यह बात ही बहुत बड़ी थी कि स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश जा सकी। जिस देश में आज भी लड़कियों को शिक्षा का अधिकार नहीं होता। वहाँ 19वीं सदी में स्त्रियाँ विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त कर सकी, यह बात ध्यान देने योग्य है कि किन संघर्षों के बाद वे यह उपलब्धि पा सकी होंगी।

"हिन्दी में स्त्री चेतना और स्त्री दृष्टि की चर्चा की शुरूआत, भारतीय स्वाधीनता आंदोलनों में स्त्रियों की सक्रिय साझेदारी, पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से आत्म–सजगता तथा आलोचनात्मक दृष्टि के जागरण और आधुनिक हिन्दी साहित्य में रचनाकार के रूप में महिलाओं के आगे आने से होती है।"[8]

आशारानी बोहरा के शब्दों में, "भारत में नारी मुक्ति और देश की गुलामी से मुक्ति ये दो बातें पृथक–पृथक कभी नहीं रहीं।"

आधुनिक कालीन स्त्री लेखन में स्त्री रचित कथा–साहित्य में स्त्री–चेतना का स्वर मुखरित मिलता है। इस परिप्रेक्ष्य में बंग महिला, यशोदा देवी, साध्वी पति प्राणा अबला, सरस्वती गुप्ता, हेमंत कुमारी चौधरी, रूक्मिणी देवी, हुक्मदेवी गुप्ता आदि नाम महत्वपूर्ण हैं।

बंग महिला स्त्री संबंधी लेखों में लिखकर पर्दा प्रथा विरोध और स्त्री शिक्षा का समर्थन कर रही थीं। 1908 में उनके स्त्री संबंधी लेख 'हमारे देश में स्त्रियों की पराधीनता' में परदा प्रथा से मुक्ति की बात की गई है – "परदे वाली स्त्रियों को कभी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। इसी कारण से उन्हें शिक्षा भी नहीं मिलती।"[9]

बंग महिला और उनकी समकालीन कई लेखिकाओं के लेखों ने स्त्री द्वारा सतीत्व का पालन और स्त्री को सहिष्णु बनने पर भी बल दिया गया था। दरअसल भारतीय समाज में स्त्री की मानसिक स्थिति पुरूष सत्ताक व्यवस्था के दबाब में इस कदर कैद हुयी है कि 'जिन पाँवों' के नीचे गर्दन दबी हो उन्हें सहलाना ही अच्छा' – यह भाव इन स्त्रियों की मजबूरी रहा होगा। तभी तो बंग महिला और अन्य कई स्त्री

लेखिकाएँ एक ओर पर्दा प्रथा का विरोध और स्त्री शिक्षा का समर्थन करती हैं तो दूसरी ओर सतीत्व पालन पर भी बल देती हैं। 1909 में 'गृहचर्या' लेख में स्त्रियों के सतीत्व पालन संबंधी लेख में बंगमहिला के विचार द्रष्टव्य हैं –

"अज्ञात अवस्था में अर्थात् बाल्यावस्था, जिस समय अपने हित अनहित पर विचार करने की सामर्थ्य नहीं रहती, उस समय माता–पिता जिसे हाथ में अर्पण कर देते हैं, चाहें वह सरूप हो, चाहे कुरूप, धनी हो, चाहे निर्धन, स्त्री के लिए वही देवता है। सती साध्वी स्त्रियाँ पति के सुख से निज सुख, पति के दुःख से निज दुःख और पति के जीवन से अपना जीवन तथा पति की मृत्यु से निज मृत्यु समझती हैं।"[10]

सामाजिक कुरीतियों का विरोध स्त्री शिक्षा की महत्ता तथा बाल विवाह का निषेध और पुरूष वर्चस्व के अनेक प्रश्नों को हेमंत कुमारी चौधरी ने उठाया है।

इलाहाबाद में 1909 में रामेश्वरी नेहरू ने 'प्रयाग महिला समिति' का गठन किया और 'स्त्री दर्पण' पत्रिका निकालनी शुरू की। स्त्री–आंदोलन की यह सबसे महत्वपूर्ण पत्रिका थी। इस पत्रिका के माध्यम से स्त्रियों ने स्वयं अपनी समस्याओं को सामने रखा और साहित्य लिखा। 'स्त्री' इस पत्रिका के माध्यम से लेखन द्वारा स्वतंत्रता की आकांक्षा अभिव्यक्त कर रही थी और लेखन को मुक्ति का माध्यम बना रही थी। दूसरी महत्वपूर्ण पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' थी। 1922 में इलाहाबाद से 'चाँद' पत्रिका निकाली गई। इन पत्रिकाओं में स्त्रियों की समस्याओं पर स्त्रियों द्वारा लिखी रचनाएँ छापी गईं। मुख्य रूप से जिन समस्याओं पर बात हो रही थी, वे हैं – परदा प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, मृतस्त्रीक विवाह, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों का सवाल। इन्हें विषयों के रूप में मानकर इन पर कविताएँ व कहानियाँ छप रही थीं।

सत्यवती, हुक्मादेवी, रामेश्वरी नेहरू और उमा नेहरू जैसी स्त्री लेखिकाएँ सक्रियता के साथ अपने समाज की समस्याओं पर लिख रही थीं।

सत्यवती ने पर्दा–प्रथा को हटाने की माँग की। और इसे सभी बुरी प्रथाओं के सवाल तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य के साथ जोड़कर देखा। हुक्मदेवी ने लिखा कि "पशु पक्षी पालने वाले पुरूष को उनके मरने तथा उड़ जाने पर अधिक दुःख होता है पर अपनी पत्नी के रोगग्रस्त होने या मरने पर उतना भी नहीं; क्यों कि स्त्री पैर की जूती है फट गई तो नई आ जाएगी।" मृतस्त्रीक विवाह के साथ स्त्री के अनमेल विवाह की भी आलोचना की। हृदयमोहिनी ने स्त्री शिक्षा पर बल दिया। स्त्री शिक्षा विरोधी पुरूषों की भर्त्सना की और कहा – "हम केवल स्त्रियाँ ही नहीं है किन्तु भारतीय समाज की सदस्य और नागरिक भी है।" 'स्त्री दर्पण' के अंकों में लिखती ये लेखिकाएं स्त्रियों में चेतना फूँकने का कार्य कर रही थीं। रामेश्वरी नेहरू के अनुसार – "वर्तमान आंदोलन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरूष के साथ स्त्री की पूर्ण समता की इच्छुक और रिवाजी योग्यताओं से उसकी पूर्ण मुक्ति चाहता है।" (स्त्री समस्या : मुकुट बिहारी शर्मा)।

'स्त्री दर्पण' पत्रिका महत्वपूर्ण पत्रिका थी जिसके माध्यम से महादेवी का कवयित्री के रूप में परिचय हुआ। महादेवी वर्मा ने 1942 में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' निबंध संकलन में स्त्री की स्वतंत्रता संबंधी जो विचार प्रस्तुत किए वे आज भी प्रासंगिक हैं। स्त्री की समस्याएँ 60 सालों बाद भी वही हैं जो 1942 में थीं। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के प्रकाशन से स्त्री चेतना का सही स्वरूप भारतीय संदर्भों में उभरता है।

महादेवी वर्मा भारतीय समाज की शिक्षित–अशिक्षित, किसान–मजदूर, सुहागिन–विधवा, कुंवारी सब स्त्रियों की चिंता अपने निबंधों में कर रही थीं। साथ ही उनकी दुर्दशा के कारणों पर भी विचार उनकी रचनाओं में मिलता है। "महादेवी वर्मा भारतीय स्त्री का प्रतिनिधित्व करती हुयी कहती हैं –

रात सी नीरव व्यथा
तम सी अगम मेरी कहानी।

तो दूसरी ओर उसकी स्वाधीनता की आकांक्षा उसके लिए संघर्ष की दृढ़ता व्यक्त करती हुई कहती हैं–

रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ।''[11]

महादेवी के बारे में रामविलास शर्मा की टिप्पणी उनके चिंतन की भारतीयता की विशिष्टता को पहचानने हेतु महत्वपूर्ण है–''उनका नारीत्व सामाजिक सीमाओं के अंदर विकास के लिख पंख फड़फड़ाता है। उसकी यह व्याकुलता अनेक सांकेतिक रूपों में उनकी कविता में प्रकट होती है।''[12]

महादेवी ने स्त्री के जिस रूप को स्थापित किया वह ऐसे लिखा कि ''नारी केवल मांस पिंड की संज्ञा नहीं है। आदिम काल से आज तक विकास पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा में अक्षय शक्ति भरकर, उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरकर मानवी ने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है, उसी का पर्याय नारी है। किसी भी जीवित जाति ने उसके विविध रूपों और शक्तियों की अवमानना नहीं की, परंतु किसी भी मरणासन्न जाति ने, अपनी मृत्यु की व्यथा कम करने के लिए उसे मदिरा से अधिक महत्व नहीं दिया।''[13]

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान कुछ कवियत्रियों ने 'राष्ट्र, राष्ट्रीयता और स्त्री स्वतंत्रता के रिश्ते को पहचानकर स्त्री की दुर्दशा को राष्ट्र की दुर्दशा से जोड़कर देखा। इस संदर्भ में राजरानी देवी, बुंदेलवाला, पुरुषार्थवती देवी, रामेश्वरी देवी चकोरी के नाम महत्वपूर्ण हैं। उद्धरण प्रस्तुत है जिसमें राजरानी देवी स्त्री दुर्दशा के खिलाफ स्त्रियों को जागृत करती हैं–

''देवियों क्या पतन अपना देखकर
नेत्र से आँसू निकलते हैं नहीं ?
भाग्यहीना क्या स्वयं को देखकर

पाप से कलुषित हृदय जलते नहीं?
क्या तुम्हारी बदन श्री सब खो गई,
उच्च गौरव का नहीं कुछ ध्यान है?''[14]

बुंदेलबाला स्त्री–पुरुष की अनुभूतियों में पार्थक्य करती हैं–

रात अंधेरी लहर भय, भंवर परत गंभीर ।
का जाने मेरी दशा, जो नर बैठे तीर ।।[15]

'पथ के साथी' में महादेवी वर्मा ने सुभद्रा कुमारी चौहान के भीतर मौजूद स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्पष्ट किया– जब स्त्री का व्यक्तित्त्व उसके पति से स्वतन्त्र नहीं माना जाता तब सुभ्रद्रा जी कहती हैं, कि ''मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र है। फिर वह चाहे स्त्री शरीर के अंदर निवास करती हो चाहे पुरुष शरीर के अंदर। इसी से पुरुष और स्त्री का अपना–अपना व्यक्तित्व अलग रहता है।''[16]

आजादी के बाद की लेखिकाओं की पीढ़ी में कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, शिवानी, ममता कालिया, क्षमा शर्मा, मृणाल पांडे, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, सिम्मि हर्षिता, कुसुम अंचल, नासिरा शर्मा, रमणिका गुप्ता, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलि श्री, उषा महाजन, शशि प्रभा शास्त्री, मंजुल भगत, अलका सरावगी आदि लेखिकाओं के नाम महत्वपूर्ण हैं। आजादी के बाद के लिखे गए उपन्यासों में स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व सामने आता है। वैवाहिक जीवन की यंत्रणा, संत्रास का चित्र उभरता है। उपन्यास 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी) और 'शाल्मली' (नासिरा शर्मा), विवाहित स्त्री की अस्मिता का प्रश्न उठाते हैं। तो 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (उषा प्रियंवदा) अविवाहित शिक्षित स्त्री की द्वन्द्वात्मक स्थिति को सामने रखता है। 'तत्सम' (राजी सेठ) विधवा स्त्री का समृतियों से जुड़ाव और एकाकी जीवन प्रस्तुत करता है। 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अंधेरे के', (कृष्णा सोबती) बेघर (ममता कालिया) स्त्री की सेक्स समस्याओं का खुलास तथा देह–शोषण को सामने लाता है। अनारो (मंजुल भगत) निम्नवर्गीय स्त्री का जीवन संघर्ष प्रस्तुत करता है। 'पीली आंधी'

(प्रभा खेतान), 'शेष कादम्बरी' (अलका सरावगी) मारवाड़ी समाज की स्त्री को सामने रखता है। 'आंवा' (चित्रा मुद्गल), 'कठगुलाब' (मृदुला गर्ग) स्त्री की कोख को किराये की कोख बनाता है।

इस तरह लेखिकाएँ अपने लेखन में विविध स्त्रियों को गढ़कर उनकी समस्याओं के साथ उन्हें प्रस्तुत करती हैं तथा अपने तरीके से उनके रास्ते तलाशती हैं। आजादी के बाद की इन रचनाओं के माध्यम से स्त्री लेखिकाएँ स्त्री की जो आजाद स्थिति गढ़कर सामने लायीं, वह अधिकांशतः शहरी मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

भारत गाँव–प्रधान देश है। जहाँ 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गांवों में ही निवास करती है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के फलस्वरूप गांवों से जो लोग शहरों में जाकर बस भी गये वे भी गांव की सामंती मानसिक सोच से उबर नहीं पाये, भले ही शहरी लिबास और उठने–बैठने का तरीका अपना लिया हो। ऐसी स्थिति में शहरों में भी स्त्रियों का शोषण जारी था। स्त्री लेखिकाओं ने अपने लेखन में इन स्त्रियों की आजादी का प्रश्न उठाया। स्त्रियों की आजादी का सवाल जिस स्वरूप में सामने आया, वह पश्चिम के नारीवाद की तर्ज पर था। वह भारतीय जमीन से पूर्णतया जुड़ नहीं पाया। अतः स्त्री लेखन में लगातार स्त्री स्वातन्त्र्य और स्त्री–चेतना की बात मौजूद होने के बाद भी ये सवाल सिर्फ बौद्धिक स्त्रियों और आधुनिक समाज तक सीमित लगते। भारतीय समाज के परिवार, उनके मूल्य, उनकी प्रथा–परंपराओं के रंग–रस से सराबोर धरातल की कमी स्त्री–लेखन में मौजूद थी। जिसकी पूर्ति हेतु एकमात्र उपलब्ध नाम है लेखिका मैत्रेयी पुष्पा। मैत्रेयी पुष्पा ग्रामीण समाज में स्त्री की दुर्दशा और शिक्षा अपनी रचनाओं में जिस रोचक किस्सागोई जीवंत शैली में प्रस्तुत करती हैं वह विषय और शैली हिन्दी स्त्री–लेखन में पहले कहीं मौजूद नहीं मिलता। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी ने स्त्री संबंधी जिन समस्याओं को शहरी भाषा में चिंतन के सहज स्वरूप में बांधा मैत्रेयी ने उन्हीं को अनुभवों के बीच से गँवई–समाज के बिल्कुल नजदीक ले जाकर रचनाओं में पिरोया है।

नवें दशक की लेखिका मैत्रेयी का स्त्री–लेखन में आना स्त्री–साहित्य में स्त्री–चेतना को विस्तृत परिदृश्य देता है जहां स्त्री चेतना किसी खास वर्ग की स्त्रियों तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह समाज का प्रतिनिधित्व करती स्त्री मुक्ति के सवाल को स्त्री–विमर्श के व्यापक परिदृश्य से जोड़ती है।

(मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री–चेतना पर विस्तृत चर्चा अगले अध्यायों में करेंगे)

संदर्भ सूची :

1. चन्द्रा सदायत, समकालीन जनमत, जनवरी–मार्च–2002
   लेख 'मीरा और भारतीय भक्त कवयित्रियाँ', पृ0–31
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ0–32
3. वही, पृ0–39
4. वही, पृ0–40
5. वही, पृ0–42
6. वही, पृ0–46
7. डॉ. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, पृ0–125
8. चन्द्रा सदायत, लेख– 'साहित्य में स्त्री', हंस, अक्टूबर–1994, पृ0–34
9. वंग महिला ग्रंथावली, सम्पादक–सुधाकर पाण्डेय, पृ0 121
10. वही, पृ0–95
11. मैनेजर पाण्डेय, तद्भव, अंक– 3, पृ0–38
12. वही, पृ0–88
13. महादेवी समग्र, (भाग–3), सं0 निर्मला जैन, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ0–226
14. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ0–96

अध्याय-दो

मैत्रेयी-पुष्पा के कथा-साहित्य में स्त्री-चेतना का विकास।

"हमारी शाश्वत नैसर्गिक इच्छाओं के दमन की, मरण की घोषणा शास्त्र–पुराण भले ही करते रहें, हमारी रची इबारतों में ऐसा मनहूस आख्यान कहीं नहीं होगा।"

'मैत्रेयी पुष्पा'

मैत्रेयी पुष्पा 'साहित्य की लुकाठी' लेकर स्त्री–उत्कर्ष को तलाशती वह भाव–भूमि रचती हैं, जहाँ उनकी चेतस स्त्री कह सके कि "अपनी इच्छाओं को कुचलकर जीने का विधान हमें 'स्वीकार नहीं हमारा मन जो कहता है, पाँव जहाँ ले चलते हैं, इंद्रियां जिस सुख की आकांक्षा करती हैं, मनुष्य होने के नाते वे हमारे कुविचार, कुचेष्टाएँ नहीं, जन्मसिद्ध अधिकार हैं।"[1]

अदम्य साहस के साथ बेबाक घोषणा करती लेखिका मैत्रेयी पुष्पा अपनी कथाओं में जो स्त्रियाँ गढ़कर सामने खड़ी करती हैं उनमें मौजूद है "बार–बार मरती हुयी चेतना और सहती–सहमती हुयी अस्मिता के खिलाफ उठी चली आती 'फैसला' की वसुमती, सामाजिक विषमताओं और आर्थिक शोषक वर्ग को चुनौती देती 'इदन्नमम' की मंदा और उसी से कदम मिलाती हुयी जातिगत तथा राजनैतिक दलालों से सिंहासन छीनने का इरादा करने वाली सारंग नैनी 'चाक' और 'अल्मा' (अल्मा कबूतरी) तथा 'झूलानट' की शीलो एवं अपनी योग्यता दर्ज कराती डॉक्टर नेहा और खिलदंड भुवन ('विजन' एवं 'अगनपाखी' में)।[2] 'अनदेखी ताकत' से भरपूर जूझते सहते जीवन के वर्जित–क्षेत्रों में प्रवेश कर जाती हैं उनकी स्त्रियाँ। डरते–डरते ही सही लेकिन चार कदम आगे बढ़ाती, दो कदम पीछे खींचती, अंततः निर्णय लेकर स्वतंत्र व्यक्तित्व की पक्षधर हैं उनकी स्त्रियाँ।

गांव के सामंती परिवेश में अपने संपूर्ण समाजकी प्रतिनिधि के रूप में आत्मनिर्णय तक पहुँचती हैं उनकी नायिकाएँ' – वसुमती, मंदा, सारंग, शीलो, अल्मा, नेहा और भुवन; जो अपने व्यक्तिगत चरित्रों से सामूहिक संघर्ष खड़ा करती हैं। स्त्री–मुक्ति का रास्ता पूरे समाज की मुक्ति को साथ लेकर चलता है और लगातार सामंती परिवेश और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के 'मूल्यों' से टकराता है। मैत्रेयी के

कथा–साहित्य में आजादी के बाद के तथाकथित विकासशील ग्रामीण समाज के यथार्थ से लगातार मुठभेड़ मौजूद है । कथा साहित्य के प्रमुख आलोचक वीरेन्द्र यादव के शब्दों में "नगरीय मध्यवर्गीय सरोकारों व जीवन स्थितियों तक सीमित अधिकांश महिला लेखिकाओं से अलग मैत्रेयी पुष्पा के कथा–सरोकार उस ग्रामीण समाज से उपजे हैं जो सामंती भावभूमि पर पुरूष वर्चस्व की मनुवादी अवधारणाओं के बीच आज भी जी रहा है।"[3]

ग्रामीण परिवेश में पली–बढ़ी मैत्रेयी 'सहअनुभूति की पीड़ा से गुजरती चुपचाप गाँव के गलियारों में नागफनी के क्रूर नरभक्षी पौधों को देखती रहीं जिन्होंने वहाँ के निवासियों को लहूलुहान कर दिया।'[4] "मेरे पिता जमींदार के विरूद्ध खड़े होकर कोड़ों की मार मारे गये। उनका अपराध था गरीब होकर स्वाभिमान से जीना। जो लगान न देने के कसूरवार होते थे, वे सख्त सजा के पात्र थे। ऐसे ही दण्डित लोगों का समूह गाँव कहलाता था, या गाँव का ही दूसरा नाम था दरिद्रता और लाचारी। हम ऐसे ही लोगों के बीच पल बढ़ रहे थे।

स्त्रियाँ तो मनुष्य की गिनती में ही नहीं आती थीं। ..... चढ़ती वय और उसके तकाजे। स्त्री होने के रास्ते में लड़की के इतिहास का शिकंजा जकड़ने लगा था। स्त्री–पुरूष के शारीरिक तन्तुओं में लहरें मारते आवेग–संवेगों की प्राकृतिक माँग का विभाजन पक्षपात के साथ हो रहा था। शाबाशी और दण्ड–विधान की प्रक्रिया में मुझे हल्का किया जायेगा, यह सत्य मुझे मेरा समय समझाने लगा। और मैंने पाया कि धीरे–धीरे अपने नैसर्गिक अधिकारों के स्तर से नीचे धकेली जा रही हूँ। खुले हुए रास्तों के मुहाने रोके जा रहे हैं। आकाश पर पर्दा टाँगा जा रहा है और धरती का वह खण्ड, जिस पर मैं खड़ी हूँ, काटकर छोटा किया जा रहा है।

कहने को सह–शिक्षा, स्त्री–शिक्षा की घोषणाएँ, और पर्दा–घूँघट का लिखित विरोध वातावरण में विकास के नाते सनसना रहा था, साथ ही अनमेल विवाह, गरीबी से निजात पाने के दबाब में लड़कियों का बेचा जाना, बेबस शारीरिक संबंध और अबाध काम के फलस्वरूप साल–दर–साल जन्मति सन्तति के चलते खोखली होती

देह ..... सचमुच ही क्या ये मुर्दनी चढ़े चेहरे वाली घरेलू दासियाँ आजाद भारत की स्त्रियाँ हैं? अनजाने ही मन में धीमा–धीमा अन्धड़ चलने लगा–चौखट के भीतर बेजुबान की तरह मर–खप जाना जब हमारी जीवन–सिद्धि है तो उन्नति और विकास के बारे में बात करना कहाँ तक जायज है?''[5]

मैत्रेयी का यह 'आत्मकथ्य' उनकी चेतना में रचे–बसे ग्राम–समाज की उस यथार्थ–पोषित भाव–भूमि से परिचय कराता है, जहाँ अन्तर्मन की खलबली और मनुष्य होने के नाते नैसर्गिक अधिकारों की माँग की रगड़ से पैदा होती रचनात्मक ऊर्जा से गढ़ी जा रही हैं भय–मुक्त स्त्रियाँ। मैत्रेयी सामाजिक विसंगतियों से सतत संघर्षरत लोगों की कहानियाँ गँवई अंदाज की मुहावरेदार भाषा और कथा–कहन की लोकशैली में रोचक किस्सागोई के साथ बयान करती हैं और इसी क्रम में खेत–खलिहान खाई–खदानों के रास्ते से गुजरकर अपनी कृतियों में रचती हैं ''नये समाज'' का वह सपना, जहाँ स्त्रियों का रास्ता बनी बनायी सड़कों से निश्चित ही नहीं जायेगा, क्योंकि अपनी जिंदगी का फैसला लेने वाली अब वही हैं। अंधेरों में उजाला खोजते इनकी निगाहें पैनी हो गई हैं, 'सो अब नजरों के आगे न कोई झुरपुटा है न कोई कुहासा, साफ दिख रहा है, धीरे–धीरे ही सही, पांव आगे बढ़ रहे हैं ..... ।''[6]

धीरे–धीरे पाँवों का बढ़ना और आँखों के आगे से झुटपुटे और कुहासे को हटाते साफ पैनी अन्तर्दृष्टि के साथ नया गढ़ना मैत्रेयी के कथा–साहित्य में स्त्री चेतना के विकास का सार है। पहली कहानी 'आक्षेप' (90) की रमिया के साथ शुरू की गई कथा–यात्रा वर्तमान में 'अगनपाखी (2001) की भुवन तक पहुँच गई है। लंबी कहानियों से उपन्यास तक बारह वर्षों के दौरान आठ उपन्यास, आत्मकथा और तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं –

<u>उपन्यास</u> – 'स्मृति दंश' (1990(अब 'अगनपाखी' है), 'बेतवा बहती रही' (93) 'इदन्नमम' (94), 'चाक' (97), 'झूलानट' (90), 'अल्मा–कबूतरी' (2000), 'विजन' (2001), 'अगनपाखी' (2002)।

आत्मकथा – 'कस्तूरी कुण्डलि बसै' (2002)

<u>कहानी संग्रह</u> – 'चिन्हार' (91), 'ललमुनिया',(96) 'गोमा हँसती है।' (98)

इस कथा–यात्रा के दौरान लगातार विकसित होती है उनकी स्त्री–चेतना। आरंभिक उपन्यास 'स्मृतिदंश' (90) की भुवन और 'अगनपाखी' (02) की भुवन के बीच लेखिका की अपने भीतर की ही स्त्री–चेतना विकसित होकर रचनाओं में उतर आती है। 'अगनपाखी' की 'भूमिका' में 'पुनर्नवा' शीर्षक से छपे उनके आत्मकथ्य पर गौर करें – ''मुझे 'स्मृति–दंश' के पुनः पाठ ने झकझोर डाला–यह तो वह है ही नहीं जो मैं कहना चाहती थी – मेरे विचार को बल दिया इसी रचना की नायिका भुवन ने।..... शायद यह मेरा उस समय का सच था, और यह आज का। मैं ही खुद को भुवन के रूप में रखकर अपने आप से लड़ रही थी और परिवर्तन के लिए विद्रोह तक जाने में कभी चार कदम बढ़ाती तो कभी दो कदम पीछे हटाती। ..... संभवतः कथा का यही लक्ष्य रूप मेरे भीतर रहा हो और उस समय व्यक्त न कर पाई हूँ।''[7]

मैत्रेयी स्त्री जीवन के अनुभूत सत्यों से गुजरती हुयी पुरूष समाज की सभ्य संस्कृति से परिचित, अभिव्यक्ति के खतरों[8] को जानकर अंततः अपनी चेतना में, भीतर पल रहे 'भय को मुक्त'[9] करती है जो उनकी लेखनी में मुखर होता है। अपने गृहस्थ जीवन में रम जाने और पुरूष के संरक्षण में सुख तलाशने वाली स्त्री–अन्तर्मन की बैचेनी को रोक नहीं पायी और लेखिका बन गई। सन् 1968 से दिल्ली के महानगरीय परिवेश में रहती अपने भीतर के रचे–बसे गाँव को प्रथम बार सामने लाती हैं पहली कहानी 'आक्षेप' में, जो अप्रैल 1990 में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपी। इस कहानी की नायिका सुन्दर स्त्री रमिया विषम परिस्थितियों से जूझते गांव के दुखी लोगों का दुःख बांटती रहती है बदले में उसके रूप के लोभी पुरूष समाज द्वारा उसके चरित्र पर लांछन लगाया जाता है लेकिन रमिया यह सब जानकर भी चारित्रिक पवित्र मूल्यों की परवाह किए बिना सामाजिक कर्म के निर्वाह में लगी रहती है जिसके आगे नतमस्तक है इसी कहानी का पुरुष पात्र मिस्टर विश्वनाथ।

पहली कहानी ही गाँव के परिवेश को रचकर केन्द्र में स्त्री को रखती है, और उन क्षुद्र सामाजिक–विकृतियों को उजागर करती है, जहाँ स्त्री को देह मानकर रूप–लिप्सा में रात में पुरुषों की फुसफुसाहट उसका द्वार खट–खट करती हैं या फिर उसके समाज–सेवा कर्म को भी 'चारित्रिक शुचिता' के पवित्र मूल्यों से जोड़कर प्रश्नचिन्हित किया जाता है।

वीरेन्द्र यादव मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों के संबंध में लिखते हैं – "मैत्रेयी पुष्पा अपनी कहानियों के माध्यम से पितृसत्तात्मक समाज के इस मर्दवादी छद्म को पारंपरिक समाज के बीच से रचनात्मक चुनौती देती है।"[10]

प्रथम कहानी संग्रह 'चिन्हार' में संकलित बारह कहानियों[11] में 'केतकी' कहानी में भोली–भाली निरीह केतकी भरी पंचायत में प्रधान गंधर्वसिंह की पशुता का कच्चा–चिट्ठा खोलती है। केतकी न केवल अपने बल्कि रेशम के साथ–साथ अन्य किसी के साथ भी होते अन्याय को रोक देना चाहती है। प्रधान के बनाये नियम, कि किसी का पाप किसी के सिर मढ़ दिया जाय – इस नियम को केतकी ने चुनौती दी। वह अपने पूर्व प्रेमी को पत्र में लिखती है – "मैं चुप रही तो यही अत्याचार दोहराया जाता रहेगा। इस गाँव की न जाने कितनी युवतियाँ अपने मुख पर स्वयं ही कालिख पुतवाना स्वीकार करती रहेंगी ..... डर से, इन दुराचारियों के भय से ...."[12] (केतकी)

गाँव में प्रधान द्वारा गाँव की जनता पर किए जा रहे अत्याचार के विरोध में भी अपना स्वर मुखर करती है – "सारे गाँव की जनता का तुमने मुँह बंद कर रखा है। पैसे के जोर पर तानाशाही चला रहे हो। इनके नाम का सरकारी ऋण इन तक पहुँचने ही कहाँ देते हो। ..... निरंतर कंगाली की ओर इन किसानों को ढकेलते जाने में ही तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध होता है, नहीं तो मनमानी कैसे कर पाओगे।"[13] (केतकी)

इसी कहानी में 'वेद–पाठी, पांडित्य–कुशल, 'गुरूकुल विद्यार्थी' 'केतकी का पति श्रीकान्त' श्रीराम का समर्थक हो उठा, सीता का त्याग कर दिया। पत्नी के तन

से हमेशा पराये स्पर्श की महक आना वह सह नहीं सकता, वह लौट जाता है गुरूकुल, कभी न आने को।' यहाँ पुरूषवादी छद्म सामने मौजूद है जहाँ पत्नी को प्रेम करने वाला पति सच्चाई को समझने का प्रयास नहीं करता।

दूसरा कहानी संग्रह 'ललमुनिया' में दस कहानियाँ संकलित हैं – 'फैसला', 'सिस्टर', 'सेंध', 'जब फूल नहीं खिलते', 'रिजक', 'बोझ', 'पगला गई है भागवती', 'छाँह', 'तुम किसकी हो बिन्नी', 'ललमुनिया'। इस संग्रह की पहली कहानी 'फैसला' अप्रैल 1993 'हंस' में प्रकाशित हुयी। 'वसुमती की चिट्ठी' नाम से दूरदर्शन ने इस कहानी पर टेलीफिल्म भी बनायी। यह कहानी केंद्रित है 'बार–बार मरती हुयी चेतना और सहती सहमती हुयी अस्मिता के खिलाफ उठी चली आती वसुमती' पर। ग्राम–प्रमुख रनवीर की पत्नी वसुमती गांव की पार्टीबन्दी और विरोध के बावजूद गांव–प्रधान के पदपर चुनी जाती है। यह संभव हुआ गांव की औरतों से। गाँव की औरतें प्रसन्न होती है क्योंकि प्रधान के पद पर उनकी अपनी वसुमती है जो उनके दुःख–दर्द को समझेगी और उन्हें दूर करेगी। गड़रिया की बहू ईसुरिया की मुखर आवाज वसुमती की ही अन्तरात्मा लगती है "टोका–टाकी न करो घिरमुख जी। चलने दो हमें। ..... बिरथां है तेरी विद्या। खाक है तेरी पढ़ाई और राख हो गई तेरी परधानी।"[14] यही आवाज उपन्यास 'चाक' में श्रीधर मास्टर और 'विजन' में आभा दी की है। वसुमती अन्तरात्मा की इस आवाज और पत्नी धर्मिता के बीच अन्तर्द्वन्द्व से जूझती डरती, सहती, सहमती एक दिन हरदेई के पक्ष मे (देवर के रोकने की परवाह किए बिना) पंचायत तक पहुँचकर फैसला करती है, जिसका पिता उसके पति के साथ उसे भेजना नहीं चाहता, ताकि उसके मनीऑर्डर का पैसा हड़प सके और उसे हाकिमों के यहाँ भेजकर भी धन उगाही कर सके। पति रनवीर को पत्नी के फैसले को बदलने में देर कितनी? रात बीतते ही सुबह हरदेई की कुएं में कूदकर आत्महत्या की खबर मिलती है। वसुमती 'शिक्षा का प्रतीक' मास्साब की चिट्ठी को याद करती है कि "आपने नया सूरज ढूंढने की आस जगायी थी। .... लिखा था, वसुमती अपने

आंगन में सत्य के खंभे गाड़कर ईमानदारी की छान डालो कि दीन, दलित, त्रस्त अभिशप्त छांह पा सकें।''[15]

यह सब कहाँ संभव हो पाता। दुखी होती वसुमती सोचती है ''काश मैं ईसुरिया होती। आड़, मर्यादा की दीवारों के बाहर मुक्त आकाश तले। कुलीन कही जाने वाली थोथी परंपराओं से परे।''[16] ईसुरिया के जैसे ही 'मित्रो मरजानी' की मित्रो भी वेश्या की बेटी होकर कुछ भी कहने, सुनने की छूट, सुविधा ले लेती है', लेकिन कुलशील वसुमती को तो पति–परायण होकर कुल परंपरा का ख्याल करना है। घर से बाहर निकलकर लाज–लिहाज त्याग देना उसे कहाँ शोभा देता है? भले ही पंचायती चबूतरे पर बैठने का अधिकार हो उसे। गड़रिया समाज की बहू कुलशीलों से अलग खुला–स्वभाव रख सकती है लेकिन वसुमती नहीं।

कुलीन परंपराओं से बँधी, पाँवों की कड़ियों को तोड़ती है – 'चाक' की सारंग नैनी। पति रंजीत के घर की कुल मर्यादा से बँधी सारंग नैनी श्रीधर मास्टर के दिखाये रास्ते पर लोक–लाज की परवाह किये बिना डरते–डरते ही सही लेकिन 'प्रधान पद पर चुनाव लड़ने' का फैसला करके पर्चा भरने निकल जाती है। यह अकारण नहीं कि वसुमती का नेह खुले स्वभाव की ईसुरिया से है, 'चाक' में सारंग नैनी का लगाव फुफेरी बहन रेशम से है और 'विजन' में नेहा बार–बार जुड़ती है स्वच्छंद विचारों वाली आभा दी से।

वसुमती से सारंग नैनी तक स्त्री की चेतना में सामाजिक चिन्ताएँ मौजूद हैं। स्त्रियों के प्रति बहनापे के साथ उनकी तकलीफों की समझ और ग्राम–विकास को लेकर ईमानदार सकारात्मक सोच है। ''चमचमाते सकूल और पक्की गलियों की चाह थी मन में। वर्षा की रौ में ढहे झोपड़ों को संवार देने की आकांक्षा की थी। हाथ पर हाथ धरे बैठे बेरोजगारों के घर दुर्दिनों में चूल्हा जलाने की बात सोची थी। बीमारों के दर्द हरने के लिए कुछ दवा गोली की साध थी।''.17 (फैसला) 'शिक्षा के प्रेरणा स्रोत' मास्साब (फैसला) और श्रीधर मास्टर (चाक) की मौजूदगी शिक्षा की लौ जगमगाने की पक्षधरता है। पति से पछाड़ खाती वसुमती का मास्साब को चिट्ठी

लिखना शिक्षा की ओर गुहार लगाना है। 'चाक' उपन्यास की सारंग नैनी, श्रीधर को अपनी देह का सत्त देकर भी जिलाए रखकर,गांव में रखना चाहती है ताकि गांव में शिक्षा की लौ जगमगाती रहे।

'फैसला' कहानी के अंत में पति रनवीर के एक वोट से हार जाने पर वसुमती के भीतर सब कुछ डोल जाना यह संकेत करता है कि उसका एक वोट अयोग्य उम्मीदवार के पक्ष में न जाने से सत्ता पलट गई। यही सही–गलत की समझ गँवार ईसुरिया में भी है – "अच्छा होता वसुमती, हम अपना वोट काठ की लठिया को दे डालते, निर्जीव लकड़ी को, उठाये उठती तो बैरी पर वार तो करती, अतीचालों के विरोध में पड़ती।"[18] यही राजनैतिक चेतना स्त्री पात्रों में विस्तार लेती है उपन्यास 'चाक' और 'अल्मा–कबूतरी' में; जहाँ राजनीतिक दलालों से सिंहासन छीनने का इरादा रखती है सारंग नैनी और राजनीतिक पद पर आरूढ़ होती है अल्मा। घरेलू स्त्री को राजनीतिक मंच तक पहुँचाकर स्त्री मुक्ति को सामाजिक मुक्ति के व्यापक संघर्ष से जोड़कर देखती हैं मैत्रेयी पुष्पा।

मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों में 'लोक–तत्व का कथा–मुहावरा' रेणु की याद दिलाता संपूर्ण सामाजिक परिप्रेक्ष्य के साथ उजागर होता है। मैत्रेयी की कहानी 'ललमुनिया'[19] और रेणु की कहानी 'रसप्रिया'[20] लोक के गीत और नृत्य को साथ लिए एक ही तर्ज पर आगे बढ़ती हैं।

तीसरा कहानी संग्रह है – 'गोमा हँसती है'। इस संग्रह की कहानियाँ एक साथ नारी दासता और मुक्ति की चाह की कथा कहती हैं। "मैत्रेयी की कथा–नायिकाएँ तिल–तिलकर समाप्त होती, सुबकती, शरतचन्द्री भावुकता में सराबोर दम तोड़ती नायिकाएं न होकर हाड़–माँस की ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो पारंपरिक समाज की कैद में रहते हुए भी अपना रास्ता तलाशती हैं। 'रास' की जैमन्ती, 'रायप्रवीण' की सावित्री या 'गोमा हँसती है' की गोमा–नारी मुक्ति की चाह में स्वीकृत मानदण्डों का अतिक्रमण करती हुयी 'विवाह तथा परिवार' जैसी सामाजिक संस्थाओं का अतिक्रमण करते हुए अपना नया रास्ता तलाशती हैं।"[21]

'रास' कहानी की जैमंती यह संकल्प करके कि 'नाऊ की बेटी हूँ, टहल चाकरी करके पेट भर लूँगी।' आर्थिक स्वावलम्बन द्वारा पुरूष दासता से मुक्ति की राह तलाशती है। जैमन्ती की सास और माँ दोनों की मानसिक बुनावट पुरूषवादी मूल्यों का अनुकूलन करती है। गौने की पहली रात ही ससुर की वासना का जैमंती प्रतिरोध करती है, इस पर उसे सास का ताना सुनना पड़ता है – "काहे को गाया था रमढोल? हमें इलम है कि हमारा बच्चा छोटा है। मरद–मानस क्या सोचे–समझे? यही कि तेरी जवानी .....।"[22] और वहाँ से भागकर मैके आने पर मां द्वारा बेटी को यह ताड़ना कि "रंडी, वो ही गीत बचा था, जवानी दिखा रही थी। वो मरद–मानस की जात, रोक बाँध तो करता ही।"[23] यहाँ सास और माँ स्वयं नारी होकर नारी का शोषण करती पितृसत्तात्मक समाज में नारी के मन में पुरूष वर्चस्व को पाल–पोस रही है। आलोचक वीरेंद्र यादव लिखते हैं – "भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारी–मुक्ति के रास्ते की सबसे बड़ी पग–बाधा नारी मन–मस्तिष्क में पुरूषवादी मूल्यों का वह अनुकूलन है जो इनके शोषण को सहज, स्वाभाविक व उचति ठहराकर नारी दासत्व को परम्परा, मर्यादा, शील कुल–सम्मान व पतिव्रत जैसे "पवित्र–मूल्यों" के आवरण में प्रस्तुत करता है।"[24] नारी के मन–मस्तिष्क में बैठी पुरूष–मानसिकता का उदाहरण मैत्रेयी की कई कहानियों, उपन्यासों में मौजूद हैं : 'बारहवीं रात'[25] कहानी में पुरूषवादी मानसिकता की संवाहक स्त्री मौजूद है। 'बेटी' कहानी में बेटे को पढ़ाया जाता है लेकिन बेटी को पढ़ाना व्यर्थ माना जाता है।' "हमने कह दिया न नहीं पढ़ा सकते तुझे ..... बेटे तो बुढ़ापे की लाठी है हमारी, हमें सहारा देंगे। तू पराये घर का दलिद्दर।"[26] बेटी की दशा के संबंध में ऐसा ही एक कथन उपन्यास 'बेतवा बहती रही' से उद्धृत है – "सरजू बेटी तो मुख जोहती गैया है रे ..... काऊ खूँटा बाँध दो। भोली बझिया सीचल देत है ..... जितै चाहौ उतै ही। कछू नहीं कहत है रे।"[27] पुरानी थोथी परंपराओं की अन्धभक्त बऊ "इदन्नमम" में कहती हैं – "बिन्नू, चौखट की मरजाद तलवार की धार से तीखी, पैनी होती है और उसके ऊपर इज्जित–आबरू वाले घरों की जनी–मानसों को ही चलना है।"[28]

TH-10101
0,52,3,N6,MA1,1:9 152 P2

मैत्रेयी की स्त्रियाँ एक ओर जहाँ पुरुषसत्तात्मक मूल्यों को पालती पोसती हैं वहीं उनकी चेतना दासता की कड़ियों को तोड़ती उन मूल्यों को चुनौती भी देती है। पुरूष सत्ता को चुनौती देते हुए इससे मुक्ति की नयी युक्तियां भी तलाशती हैं। कभी इसकी अभिव्यक्ति विवाहेत्तर संबंधों (गोमा हँसती है) में होती है, तो कभी स्वतंत्र आर्थिक–सामाजिक भूमिका में (रास), कभी प्रेमी के साथ पलासन करते हुए (राय प्रवीण) तो कभी सीधे–सीधे विद्रोही मुद्रा अपनाकर (बारहवीं रात)।

पुरूष सत्ता को चुनौती देने के उपक्रम में नारी की दैहिक पवित्रता के 'मूल्य' को महत्वहीन मानते हुए अक्सर वे देह को भी अपनी मुक्ति का साधन मानती हैं। "मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में 'प्रतिरोध की दस्तक' के उद्धरणों से –

'बेतवा बहती' रही उपन्यास में मीरा की दादी और उर्वशी विधवा बहू का विवाह करवाने का बीड़ा उठा लेती हैं। 'इदन्नमम' में मंदा की चेतना मुखर है जो थोथी परंपराओं का विरोध करती सामाजिक कर्म–क्षेत्र में उतर आती है, स्त्री की देह से जुड़े सत्यों का सामना भी करती है, उद्धरण देखिए, "सो हम कहते हैं बऊ, पुरानी परंपराओं की जो थोथी और दुःखदायिनी नीति है, उसकी अन्धभक्ति न करो। पुरूष–पूजा को मान–मर्यादा का नाम न दो। तुम उसी परंपरा को तो निभाने की कोशिश करती रहीं और उसी का फल है कि आज तक हमारे घर की स्थिति वही की वही है, और बुरी।

..... लेकिन किस स्त्री में देह की भूख नहीं रहती? विधवा होने पर क्या सूख जाते हैं स्रोत? तू सच बता मन्दा, क्या तुझे वे इच्छाएँ, कामनाएँ, आकांक्षाएँ? तू भी तो अब तक कुँआरी ..... क्या तू सामान्य नहीं? अपने–आपसे प्रश्न करती है मन्दाकिनी।..... चुप है, मगर नकारना भी नहीं चाहती आदिम इच्छाओं के होने को। आवेग–संवेग हैं, तृप्ति की अबूझ कामना है, अनुभूत दैहिक तरंगें हैं। मनोभावों में जाग्रत उमंगें हैं, तभी तो मकरन्द हैं।"[29] (कुसुमा भाभी और दाऊ जू का संबंध भी देखा जा सकता है)।

'इदन्नमम' में बऊ विधवा होने पर विधवापन के लिए बनाये गये निषेधों को झेलती रहीं जिन्हें उनकी बहू प्रेम ने नकार दिया। बऊ बताती हैं "रांड़ विधवा तो हम भी हुए थे बेटा। और चढ़ती उमर में हुए थे। ..... पर हम जानते थे ऊँच नीच। ..... सो बिटिया गद्दर उमर का हींसा, देह के तकाजे जरा डारे जई देहरी के होम कुंड में।"[30] इसी कथा में बऊ की बहू प्रेम, विधवा होकर भी अपनी देह जरा नहीं डारती' और रतनसिंह के साथ चली जाती है किसी को भी बताये बिना।

लेकिन 'चाक' में विधवा रेशम पूरे तेवर के साथ अपनी इच्छा को तेज आवाज में जताती है – "हाँ मैं पेट से हूँ अम्मा, ... अम्मा, तुम तो बिरथा ही दाँत किटकिटा रही हो। तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती? जीतों–मरतों का भेद भी भूल गई तुम? बेटा के संग में भी मरी मान ली।"[31]

रेशम की सास हुकुमकौर एक तरफ तो पुरूष मानसिकता से प्रतिबद्ध रेशम को डाँट–फटकार लगाती, वहीं रेशम के गले लगकर रोती है क्योंकि वह अपनी इच्छा से विरोध नहीं करना चाहती। स्त्री होने के नाते रेशम का दर्द समझती है तभी तो कहती "..... रेसमियाँ, मेरा बस चले तो तुझे अपनी पलकों में छिपा लूँ, पर मर्दों को क्या जवाब दूँगी री ऽ ऽ ऽ ..... ।"[32]

सामंती समाज वैधव्य की पीड़ा झेलती स्त्री को बेगार का दर्जा देकर सारे अधिकारों से वंचित कर देता है। "वे विधवा स्त्री नहीं . . . ढोर पशुओं में मिला दी जाती हैं – मुद्दीका (मुँह ढँकने की जाली) बाँधकर बैल की तरह काम करने का साधन।"[33] लेकिन मैत्रेयी की कथाओं में विधवा स्त्री 'लाज लिहाज और मरजाद त्यागकर' स्वतन्त्र रास्ते की तलाश करती अपने अधिकारों के प्रति सजग है। चाहें वह 'उज्रदारी' कहानी की 'शांति' हो, 'चाक' की 'रेशम' या फिर 'प्रेम' (इदन्नमम) या 'अगनपाखी' की भुवन। न केवल दैहिक मुक्ति की चेतना बल्कि अपनी संपत्ति के प्रति भी चेतस हैं ये स्त्रियाँ। परिवार के लोग विधवा स्त्री को देवर–जेठ के संग बिठा देने के हिमायती रहते, ताकि स्त्री की संपत्ति अपने कब्जे में ही रहे किन्तु ये चेतस स्त्रियाँ यह चाल समझ लेती हैं। परंपरा निर्वाह की पक्षधर बऊ भी जानती हैं मंदा को –

"जनी के लाने आसनाई करने वालों की कमी नहीं होती। पर हम जानते थे ऊँच–नीच। बात को परखने की बुद्धि नहीं खोई हमने। जाहिर थी यह बात कि उन दुष्टों की आँख हमारी देह और जायदाद दोनों पर थी।"[34]

बऊ की बहू प्रेम तो अपने प्रेमी रतनसिंह से संबंध ही तोड़ लेती है – "रतनसिंह से वास्ता नहीं रहा। हेलमेल उसी दिन टूट गया, जब उसने हमारी जमीन बिकवा दी। ..... खेती का पूरा–पूरा पइसा हड़प रहे थे। हमने कहा, चाहे पिरान कढ़ जायँ, यह अमानत न देंगे किसी तरह।"[35]

जर–जोरू और दोनों पर आँख रखने की चाल को 'चाक' की विधवा रेशम भी समझती है। सारंग से कहती है –

"तेरी भी समझ में आती होगी यह बात कि डोरिया को औरत की जरूरत है, और थानसिंह को जमीन और मजदूर दोनों की। कितने फायदे की बात है मेरे बड़े जेठ थानसिंह मास्टर के लिए, कि करमवीर के हिस्से की जायदाद के संग–संग मैं भी डोरिया के खाते में चली जाऊँगी और जेठ जी के लिए मजबूत कद–काठी का बेवकूफ भाई और उसकी जोरू के रूप में मैं – दो गुलाम मिल जायेंगे। संग–संग एकमुश्त खेती।"[36]

यही चेतस विधवा स्त्री, आगे जाकर 'अगनपाखी' में भुवन के रूप में अपने सांपत्तिक अधिकारों को पाने के लिए कचहरी में न्याय हेतु अर्जी दाखिल करती है। चालबाज पुरूष उसका जेठ अजयसिंह उसकी जायदाद को हड़पने के लिए उसके 'बेतवा में डूबकर मर जाने' की झूठी खबर अखबार में छपवा देता है। उपन्यास 'अगनपाखी' की शुरूआत ही अपने हक की 'दावेदारी' से होती है – "कचहरी । हलफनामा । उज्रदारी। मैं भुवनमोहिनी, पत्नी स्वर्गीय विजयसिंह वल्द स्वर्गीय दुरजयसिंह, निवासी ग्राम विराटा, जिला झाँसी, यह दावा करती हूँ कि मैं अपने पति के हिस्से की चल–अचल संपत्ति की हकदार हूँ। मुझे इत्तला मिली है कि मेरे पति के साथ मुझे भी मृतक दिखाया गया है और मेरे जेठ कुँवर अजयसिंह ने अपने अकेले का हक बरकरार रखा है। क्योंकि स्व0 विजयसिंह की कोई सन्तान नहीं।

कचहरी से अर्ज हे कि अपने पति की जायदाद का हक मुझे सौंपा जाए। मैं कुँवर अजयसिंह की हकदारी पर सख्त एतराज करती हूँ।

"बकलम खुद – भुवनमोहिनी"[37]

'अगनपाखी' के इसी केन्द्रीय बिन्दु को पकड़कर 'डॉ0 नामवर सिंह ने इस उपन्यास को एक साथ स्त्री विमर्श, संपत्ति विमर्श व सती विमर्श का उपन्यास कहा है।'[38] स्त्री को आर्थिक रूप से मजबूत करने हेतु उनके सांपत्तिक अधिकारों की हिमायती है मैत्रेयी की कथाएँ। इन कथाओं में स्त्रियाँ स्वयं अपनी स्थिति और व्यक्तित्व के प्रति चेतस हैं।

मैत्रेयी पुष्पा की कथाओं में स्त्री अपने साथ होने वाले अन्याय का प्रतिकार करती है। कहानी 'गोमा हँसती है' में गोमा बेमेल विवाह होने पर बली सिंह से विवाहेत्तर संबंध बनाती है। 'बछिया–पड़िया की डंगर से भी गई गुजरी' गोमा के व्यक्तित्वांतरण की यह कथा ग्राम्य–जीवन की विडम्बनाओं को सामने लाती है। "जिन्हें समझकर ही गोमा हँसती है। लोग गोमा पर हँसते हैं गोमा लोगों पर हँसती है।" अनामिका लिखती हैं– "गोमा हँसती है" में मैत्रेयी एक बिल्कुल अलग तरह की ठस्सेदार देहातिन से मुखातिब है '.....बूढ़े पति से उसे कोई बैर नहीं, पर मन जहाँ रमता है, वहीं रमता है। दोहरे मानदण्ड मध्य वर्ग में जैसे होते हैं, कामगर समाज में वैसे नहीं होते।"[39]

पुरूष–समाज के दोहरे मापदण्ड को बेपर्दा करती हैं कहानी 'ताला खुला है पापा।' युवावस्था में अपनी प्रेमिका को भगा ले जाने का हौसला रखने वाला पिता अपनी बेटी को 'घर की इज्जत आबरू और माता–पिता की नाक' के तर्क पर ताले में बन्द रखकर प्रेम से वंचित करता है।

मैत्रेयी पुष्पा की कथाओं में कुलीन स्त्री, कामगार स्त्री के साथ दलित स्त्री की तिहरें शोषण की चिंता भी मौजूद है। एक स्त्री होने की पीड़ा और दूसरा दलित जाति में जन्मी होने की पीड़ा और तीसरा गरीबी की पीड़ा। कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' पंचायत चुनाव में महिला आरक्षण की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए

दुग्गी जैसी मुखर नारी पात्र को सामने लाती है। एक अन्य कहानी 'छुटकारा' में जमादारिन छन्नो के साथ सवर्णों द्वारा किए गये दोहरे व्यवहार को सामने लाया गया है। "जमादारिन छन्नो के साथ अपनत्व का व्यवहार किया जाता है, उसके बच्चे के जन्म पर ढेरों उपहार दिए जा सकते हैं, उसके विधवा होने पर शोक मनाया जा सकता है, उससे शारीरिक संबंध बनाये जा सकते हैं, किन्तु सवर्णों की गली में मकान खरीद बेटी के साथ वह नहीं रह सकती। गालियों, तोड़–फोड़, धमकियों, अपमान से वह घुटकर रह जाती है। बेटी के सिलाई सीखने से क्या होता है? मुहल्ले के लोग उससे कपड़े तो नहीं सिलवा सकते।"[40]

मैत्रेयी की कहानियों के संबंध में वीरेन्द यादव की टिप्पणी ही सही लगती है कि "उनकी कहानियाँ भारत की ग्रामीण नारी का मैग्नाकार्टा" (अधिकार पत्र) हैं। ..... बिना किसी सैद्धांतिक आरोपण के ग्राम्य समाज का जो नारीवादी विमर्श मैत्रेयी पुष्पा अपनी कहानियों के माध्यम से शुरू करती हैं, वह पश्चिमी 'फेमिनिज्म' से मुक्त नारीवाद का भारतीय परिप्रेक्ष्य है।"[41]

मैत्रेयी की उपन्यास–यात्रा :

मैत्रेयी पुष्पा के बहुचर्चित उपन्यास 'इदन्नमम' (1994) की कथा "सामन्ती समाज के हिंसक, अन्तर्विरोधी और दोहरे चरित्र के साथ–साथ, बदलते परिवेश में अन्य विकल्पों की अन्य संभावनाओं की तलाश में निकली ग्रामीण, अनपढ़, अंगूठा टेक औरतों की (आत्म) कथा है, जिसे उनकी अपनी भाषा में उनके संकल्पों का शपथ–पत्र भी कहा जा सकता है।"[42] बुन्देलखण्डी अंचल को समेटे इस कथा के केन्द्र में ग्रामीण स्त्री की संघर्ष कथा है। पितृसत्ताक व्यवस्था में देह और संपत्ति दोनों पर पड़ते प्रहारों के बीच अपने अस्तित्व को बचाती स्त्री सामाजिक–विधानों से टकराती, उन्हें तोड़ती, उन पर सवाल खड़े करती है और निषिद्ध क्षेत्रों में प्रवेश कर जाती है। साथ ही सामाजिक मुक्ति की दिशा तलाशते हुए समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार से भी टकराती है। 'नौकरशाह और राजनेताओं के हाथों का खिलौना बनाता जीवन',

जहाँ प्रजातंत्र की जगह शोषण–तन्त्र लागू है। ऐसे में कच्ची मिट्टी की तरह मुलायम गाँव को सँवारे जाने का सपना लेखिका ने नारी के हाथों पूरा करवाने का प्रयास किया है। "माँ और शक्तिरूपा स्त्री बेईमान नहीं होती। भ्रष्ट नहीं होती। अन्याय नहीं करती। माँ सन्तान को धोखा नहीं देती।"[43]

उपन्यास का आरंभ होता है परिवार के मुखिया महेंद्रसिंह की मृत्यु के बाद स्त्री की सुरक्षा और संरक्षण की समस्या से। स्त्री 'सुरक्षा और संरक्षण की तलाश में' घर से बाहर निकलती है। किन्तु "परिवार के भीतर–बाहर सुरक्षा और संरक्षण की प्रक्रिया में औरतें पुरूष के हाथों जब बार–बार छली जाती हैं, तो अपने अपने मनचाहें या उपलब्ध रास्ते खुद चुनती हैं। पुरूष स्त्रियों को सुरक्षा या संरक्षण देता है तो बदले में स्त्री देह दाँव पर लगती है या उसकी संपत्ति दोनों ही।" लेकिन इस कथा की चेतस स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संघर्ष करती हैं। उनके यहाँ मुक्ति का सवाल केवल देह के सरोकारों तक सीमित नहीं रहता, वह संपत्ति के अधिकार और सामाजिक मुक्ति से भी जुड़ता है। ये स्त्रियाँ पितृसत्ताक व्यवस्था में विवाह, परिवार जैसी सामाजिक संस्थाओं और स्त्रियों के लिए बनाए गये सामाजिक विधानों को चुनौती देती उन पर सवाल खड़े करती हैं। ये स्त्रियाँ हैं – बऊ (दादी), प्रेम, मन्दा, कुसुमा, सुगना, कक्को।

पति महेन्द्रसिंह की हत्या के बाद रूप और धन–माया की मालकिन विधवा स्त्री 'प्रेम' पर लोभी पुरूषों की आँखें टिक गईं। उसके लिए प्रस्ताव और धमकियाँ भेजी गईं। किन्तु प्रेम ने अपनी इच्छा से जीवन की राह चुनी। विधवा के लिए बनाए गये विधानों को तोड़कर निषिद्ध क्षेत्र में घुस गई। "जौन पौडर किरीम, साज–सिंगार त्याग चुकी थी, सो अपना लिए।"[44] और प्यार तथा देह के सरोकारों के चलते अपने जीजा रतनसिंह यादव के साथ चली गई। "बिटिया का संग–साथ माँ को ऐसा करना चाहिए?" इस सवाल की परवाह प्रेम ने नहीं की। उसके पुनर्विवाह किए जाने पर समाज ने कटाक्ष किए, तब दोहरी मानसिकता वाले समाज पर सवाल खडे किये लेखिका ने मंदा विचारों के माध्यम से कि "गाँव में छः आठ ऐसे जोड़े हैं, जिन्होंने

दूसरा विवाह किया है। माना कि पुरूष है, तो क्या अम्मा स्त्री होने के नाते दण्ड की, मखौल की, हेय दृष्टि की भागीदार है? यदि ऐसा नहीं है तो उन पुरूषों से अटपटे प्रश्न क्यों नहीं पूछता कोई? उन्हें क्यों नहीं घर से निकाल देता कोई? उनकी निगाह नीची क्यों नहीं होती?''[45] हमारे समाज में स्त्री और पुरूषों के लिए अलग–अलग विधान बनाए गये हैं जहाँ पुरूष (यशपाल) अपनी पत्नी (कुसुमा) से कोई संबंध इसलिए नहीं रखता क्योंकि वह अपने मायके से धन–दौलत नहीं लाई और पहली पत्नी के रहते ही दूसरी पत्नी ले आता है। किन्तु जब पहली पत्नी अपने चचेरे ससुर (दाऊ जू अमरसिंह) से संबंध बनाती है तब उसे जान से मार देने की कोशिश करता है। वह पुरूष अपनी पत्नी को क्षमा नहीं करता।

सिर्फ पुरूष ही नहीं पुरूष–मानसिकता का अनुकूलन करने वाली बऊ (प्रेम की सास) स्वयं स्त्री होने के नाते उसकी पीड़ा समझते हुए भी प्रेम को क्षमा नहीं करती।'' हम ऐन दुःख समझते थे उसका, पर जीजा के संग ऐल–फैल की आजादी तो दे नहीं सकते थे। अपनी बाखर में रंगरलियाँ तो नहीं रचाने देते।''[46] अपना उदाहरण देते हुए बऊ प्रेम को कोसती रहती हैं और अंत तक उसे घर की देहरी पर पाँव नहीं रखने देतीं। बऊ कहती हैं – ''राँड़ विधवा तो हम भी हुए थे बेटा! और चढ़ती उमर में हुए थे। जनी के लाने आसनाई करने वालों की कमी नहीं होती। पर हम जानते थे ऊँच–नीच। बात को परखने की बुद्धि नहीं खोई थी हमने। जाहिर थी यह बात कि उन दुष्टों की आँख हमारी देह और जायदाद पर थी।..... हँसी खेल नहीं है विधवा जनी का इज्जित आबरू से रहना।..... अरे, ऐन वे मीत हमें जान–पिरान से चाउते, धरती–आकास जोरते, तो भी हम टीकमगढ़ रियासत अपने पिता रघुराजसिंह और मालिक धनी सुभागी सिंह की मरजाद में दाग न रखने देते। .. ..सो बिटिया, गद्दर उमर का हींसा, देह के तकाजे जरा डारे जई देहरी के होम कुंड में।''[47] बऊ अपनी बहू से भी ऐसी ही उम्मीद करती हैं किन्तु 'जिन निषेधों को बऊ झेलती रहीं, प्रेम ने उन्हें नकार दिया।' जिन दैहिक सुखों को बऊ ने इच्छा या अनिच्छा से नकार दिया उन्हीं को उसने अनिवार्य समझ लिया।' किन्तु 'प्यार' के नाम

पर स्त्री यहाँ छली गई। रतनसिंह "तीन विधवाओं की जमीन चाँपे बैठा है किसी को भगाकर तो किसी को बहला–फुसलाकर।" ..... मास्साब के शब्दों में "प्रेम केस वापिस लेने की बात करती है, सो रस्सों से पीटते हैं कसाई। पीठ पर नीले–काले निशान लुहारिन ने खुद देखे हैं। हत्यारे रोटी तक को तरसाते हैं। उन्ना कपड़ा तक नहीं देते पहरने को।" अपना रास्ता खुद चुनकर चलने वाली प्रेम पुरूष छल का शिकार भले ही होती है किन्तु संघर्ष करती है, रतनसिंह से अपना संबंध तोड़ लेती है और अपनी संपत्ति के प्रति सजग रहती है। मन्दा को बताती है – "रतनसिंह से हमारा वास्ता नहीं रहा। हेलमेल उसी दिन टूट गया, जब उसने हमारी जमीन बिकवा दी।..... खेती का पूरा–पूरा पइसा हड़प रहे थे। हमने कहा, चाहे पिरान कढ़ जायँ, यह अमानत न देंगे किसी तरह।"[48]

ठीक ऐसे ही छल की शिकार बऊ भी होती हैं। पंचमसिंह के संरक्षण में रहते समय उनके ही छोटे भाई गोविंद सिंह ने छल करके खेत बेचेने के लिए अंगूठा लगवा लिया और खेत बेच डाले। अनपढ़ बऊ अशिक्षित होने के कारण जायदाद से हाथ धो बैठी। सोचती है "अँधेरे की तरह बेबस थे हम।"

स्त्री के लिए बनाए सामाजिक विधानों को कुसुमा भी तोड़ती है और सवाल खड़े करके उन विधानों को पक्षपातपूर्ण बताती है। पति द्वारा उपेक्षा किए जाने पर चचेरे ससुर दाऊ जू अमरसिंह के साथ कुसुमा के संबंध बन जाते हैं। कुसुमा दाऊ जू के साथ अपने संबंधों को लेकर कोई ग्लानि नहीं मानती – "बिन्नू, यह जल निरमल है या मैला? पवित्तर है या पाप का? इमरत है कि बिस? नहीं जानते हम। .... आदमी जब प्यासा होता है, प्यास से मर रहा होता है, तो कहाँ देखता है, कहाँ सोचता है, कहाँ करता है कोई भेद? कोई अंतर?

"अकेले थे हम मन्दा! निपट अकेले! झुलस–झुलसकर मर रहे थे। प्यासे तड़प रहे थे। दाऊ जू आ गये हमारे बीहड़ में। सीतल झरना होके बहने लगे। उजाड़ जिन्दगानी के टूटे–फूटे मंदिर में ज्यों पिरभू देवता का रूप धरकर खड़े हो गये हों। बस ..... सोई हम उनकी सरन में जा गिरे जोगिन तपसिन की तरह।"[49]

देह के संबंध को 'प्यास और पानी का नाता' मानती कुसुमा सास द्वारा ताना, दिए जाने पर वैवाहिक संबंधों को ही सवालों के घेरे में खड़ा कर देती है। सास को जवाब देती है – "अगिन साक्षी करके ही आये थे तुम्हारे पूत के संग। सात भाँवरे फिर कें। लिहाज रखा उसने? निभाया सम्बन्ध?" "दूसरी ब्ठिा दी हमारी छाती पर।'

"उस दिन से कोई, संबंध, कोई नाता नहीं हमारा! जो ब्याहकर लाया था उससे ही काई ताल्लुक नहीं तो इस घर में हमारा कौन ससुर और कौन जेठ?"[50]

सिर्फ यही नहीं, कुसुमा विवाह संस्था पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देती है। वह मन्दा से कहती है – "बताओ तो अगिन साक्षी करने का क्या मतलब? "पति और पतनी को साथी–सहचर कहें तो विरथा है कि नहीं? कितेक उल्टा है बिन्नू, बेअरथ! यह सबंध बड़ा थोथा है। लो, एक तो खूँटे से बाँधा पाँगुर, दूसरा सरग में उड़ता पंछी! ढोर और पंछी सहचर नहीं हो सकते मन्दा। ....."[51]

गर्भवती कुसुमा, की हत्या करने में असफल यशपाल उसे गर्भपात कराने के लिए कहता है किन्तु दृढ़ कुसुमा बच्चा पैदा करने का ऐलान करती है और यशपाल को फटकारती है – "तुम कौन होते हो हमारी नाकेबन्दी करने वाले?" ठीक ऐसा ही जान का जोखिम उठाकर बच्चा पैदा करने का ऐलान विधवा स्त्री रेशम (चाक) भी करती है। उसका देवर डोरिया उसकी हत्या कर देता है।

कुसुमा दाऊ जू के बच्चे की माँ बनती है और बेटे को उसका हक दिलवाने के लिए भी संघर्ष करती है और दाऊ जू का तीसरा हिस्सा उसके नाम लिखवाती है।

कुसुमा दाऊ जू की जंग में पूरा–पूरा हिस्सा लेना चाहती है। अंतिम घड़ी तक जहाँ दादा ने बेबस लाचार और दीन हीनों के लिए लड़ाई लड़ी है।

उपन्यास की मुख्य नायिका है मंदाकिनी। राजनीतिक रंजिश में पिता (महेंद्र सिंह) की हत्या के बाद माँ (प्रेम) अपने जीजा (रतन यादव) के साथ चली जाती है और अपनी तेरह वर्षीय बेटी मन्दा को प्राप्त करने के लिए मुकदमा कर देती है। मन्दा की सुरक्षा हेतु बऊ (दादी) श्यामली के प्रधान पंचमसिंह के संरक्षण में जाती हैं। वहीं किशोर मकरन्द और मंदा के बीच प्रेम पनपता है। इसी बीच सुरक्षा यात्रा के

दौरान कैलास मास्टर मन्दा का बलात्कार कर देता है। कुसुमा भाभी के समझाने पर मंदा इस घटना को न केवल भूलना चाहती है बल्कि स्वयं को पवित्र भी मानती है। यह बात अलग है कि लड़की की बदनामी उसके आगे–आगे पहुँचा दी जाती है। बलात्कार की घटना से दुःखी मंदा को कुसुमा समझाती है – "जो हुआ उसे भूल जाना। ..... इतनी बड़ी जिंदगी में अच्छा बुरा घट जाता है बिटिया उसके कारण मन में गाँठ लगाने से क्या फायदा? जो तुमने किया ही नहीं, उसके लिए अपने को दोसी क्यों मानना? ..... अपराधी तो वह है, जिसने यह अजस ..... छल–बल से कुकरम ..... छुलैला और अपवित्तर भी वही हुआ – कुढ़िया कैलास मास्टर! और उसकी जात हुयी मैली, जो हम पर धोखे से करती है हमला।

ऐसे मरदों को माफ तो हम नहीं करेंगे बिन्नू। वे कौन होते हैं इस अनहोनी का फैसला करने वाले? हमको नीची निगाह से हेरने वाले? ..... अपनी जिंदगानी के सही गलत का निरनय तो हमें ही लेना है बिन्नू। काट फेकों जीवन से इस कुघड़ी को। तुम अच्छत हो मन्दा।"[52] स्त्री देह की पवित्रता और उसके अक्षत होने के मिथक को मैत्रेयी की ये स्त्रियाँ नहीं मानती और अपनी पवित्रता का निर्णय अपने हाथ में ले लेती हैं। स्मृति में इस घटना के याद आ जाने पर मंदा सोच लेती है – "नहीं, वह कन्या ही है। मन की पवित्रता पर टिका है कन्या का स्वरूप।"[53] स्त्री के मन की इस पवित्रता के साथ उसकी देह को जोड़कर पवित्र नहीं मान पाता 'बेघर' (ममता कालिया) का पुरूष परमजीत। कौमार्य के मिथक को स्त्री तोड़ती है और मन की पवित्रता को सामने लाकर बलात्कार की घटना को जीवन से काट फेंकती है। वह किसी ग्लानि या मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति में नहीं जीती, जिस तरह 'सूरजमुखी अंधेरे के' (कृष्णा सोबती) की रत्ती और 'छिन्नमस्ता' (प्रभा खेतान) की प्रिया मानसिक अवसाद में घुटती हैं।

मंदा के वापस आने पर 'मन्दा और मकरंद के प्रेम' से परिचित परिवार वालों द्वारा उन दोनों की सगाई कर दी जाती है। गाँव में पनपते इस प्रेम को सहज स्वीकृति मिल जाने का खुलासा बऊ के मूल कथन से हो जायेगा – "प्यार–प्रीति के

चलते होते हैं क्या ब्याह? हमारे गाँव–कसबों में स्वाँग ढेढरों जैसा चलन है क्या? गाँव–नाते से सब भइया–भतीजे लगते है, कका ताऊ होते हैं, आसनाई की बात उठती कहाँ है? जो उठती है तो बेजाँ मानी जाती है। वह तो तुम यहाँ पराये गाँव में थीं सो हमने तुम्हारी इच्छा ही ऊपर मानी।

नहीं तो बेटा, जिधर मतारी–बाप–ने ब्याह दिए उधर ही चले गये। (पृ0–150, इदन्नमम्) प्रेम संबंधों की परिणति विवाह तक नहीं होती। मकरन्द के माता–पिता मन्दा को 'अच्छी लड़की नहीं' मानते हुए सगाई तोड़कर मकरंद को वापस ले जाते है।।

मंदा को एक और आघात लगता है किन्तु वह वापस लौटकर अपने गांव के लिए समर्पित हो जाती है। मन्दा पुस्तक में पढ़ी बात को अपने जीवन में लागू करती है कि "जब तक मनुष्य आत्मरत रहता है, अपने दुःखों से नहीं उबर पाता। समष्टिगत प्रेम मानव को दुःखों के गर्त से बाहर खींचता है।" (पृ0–163, 'इदन्नमम्')

कथा के अंत तक मंदा का विवाह नहीं होता। 'और भी गम है जमाने में मोहब्बत के सिवा'। यह मानकर सहज, संघर्षशील मन्दा सिर्फ प्रेमी के इन्तजार में जिंदगी बिताने वाली नायिका नहीं है। "वास्तविक रूप से स्वाधीन चेता, अपनी पहचान लिए उस ग्रामीण समाज में बड़ी हुयी यह स्त्री आज के भारत की स्त्री हैं।" –(प्रभा खेतान)

मंदा सिर्फ पाँचवी कक्षा तक पढ़ी है। किन्तु बुद्धि और विवेक की समर्थक मंदा बऊ को समझाती है "पुरानी परंपराओं की जो थोथी और दुःखदायिनी नीति है उसकी अंधभक्ति न करो।" मन्दा रामायण, महाभारत तथा पुराण की हर बात का अन्धानुकरण करने की पक्षधरता नहीं करती। उसके चिंतन में अनेकों सवाल उठते हैं – "वे सब पुरूष प्रधान समाज के अवसरवादी प्रसंग हैं। एक ओर पतिव्रत धर्म की परिभाषा करता राम के साथ सीता का वनगमन, दूसरी ओर उसी निष्ठा को तोड़ता मर्यादा पुरूषोत्तम का सीता की अग्नि परीक्षा लेना। सीता ने क्यों नहीं माँगा कोई

सबूत कि हे भगवान कहे जाने वाले राम, तुम भी तो उस अवधि में मुझसे अलग रहे हो, अपने पवित्र रहने के साक्ष्य दो।

'सपनेहु तिन पर नारी न हेरी।' कह देना अग्नि–परीक्षा जैसा कुंदन सत्य नहीं था। बाद में प्रजा का प्रतिनिधि धोबी को मानकर सीता का निष्कासन। तो क्या सीता अयोध्या की प्रजा में नहीं आती थीं? या वे केवल दण्ड पाने के लिए जनमी थीं और भूमि में समा जाना उनकी नियति थी? ..... रामायण में महाभारत में और पुराणों में कौन सही और कौन गलत, क्या ग्रहण करने योग्य है क्या नहीं, यह अपने विवेक से देखो बऊ, परखो अपनी बुद्धि से।

"हम नहीं मानते। माता सत्यवती का अपनी बहुओं को वंश चलाने की खातिर ऋषि व्यास के सामने नड़ी खड़ी कर देना हम घोर अपराध मानते हैं। कुंती का परपुरूषों (दंड, अग्नि, वरूण) से पुत्र प्राप्त करना केवल इसलिए कि वंश का नाश न हो जाए, कतई उचित नहीं। ..... और अर्जुन द्वारा स्वयंवर करके लाई गई द्रौपदी को अपने पाँचों पुत्रों में बाँट देना तुम्हें अच्छा लगा होगा, बऊ, हमें तो एक औरत के प्रति दूसरी औरत का घोरतम अन्याय और कुकर्म लगा।"[54]

सामाजिक रूढ़ियों से, टकराती मंदा कर्म–क्षेत्र में सामाजिक समस्याओं के विकल्प तलाशती है। भ्रष्टाचार के बावजूद प्रयत्नों में लगी रहती है। अस्पताल में डॉक्टर लाना चाहती है। आर्थिक तंगी के कारण आस–पास के गांवों में रामायण बाँचती मंदा अन्य गांवों से परिचित हो जाती है। तब गरीबों के संघर्ष को सामूहिक ताकत मिल जाती है। गाँव की स्त्रियाँ मंदा का साथ देती हैं। पिता जगेसर के बंधनों को तोड़ती सुगना मंदा के पास चली आती है। यही सुगना अभिलाषसिंह की हत्या कर देती है जब वह उसका बलात्कार करता है। हत्या के बाद आत्महत्या! प्रतिशोध लेती स्त्री प्रतिकार में हिंसा के रास्ते तक चली जाती है। स्त्री अपनी देह के कारण बार–बार अपमान और आघात झेलती है चाहें वह सामान्य स्त्री हो या फिर सामाजिक कर्मरत। अभिलाखसिंह मंदा पर हमला करता है गालियाँ देता है। किन्तु एक चिंगारी से जैसे आग फैल जाती है वैसे ही एक मंदा की चेतना गाँव भर में फैल चुकी थी।

इसलिए तुरंत ही गाँववासियों ने उर्जा–पुर्जा, नट बोल्ट सब उखाड़ डाले। जबकि यही भीड़ पहले खामोश रहकर तमाशा देखती थी या फिर इधर–उधर जगह तलाशती थी। मैत्रेयी की स्त्री–चेतना सामाजिक चेतना में प्राण फूँकती है।

'अल्मा–कबूतरी' (2000) उपन्यास कबूतरा जनजातियों (खानाबदोश) के जनजीवन को लेकर लिखा गया उपन्यास है। जिसके विस्तार में राजनीतिक परिदृश्य की विद्रूपताएँ भी सामने आती हैं। उपन्यास में जो परिदृश्य सामने आता है उसमें कबूतरा अपनी भूख मिटाने के लिए चोरी करते हैं तो कज्जा (सभ्य) अपने ऐश के लिए डाका डालते हैं। उपन्यास में त्रासद स्थिति यह है कि रामसिंह, राणा, अल्मा तथा कद्माबाई कबूतराओं की कज्जा बनने की पूरी कोशिश समाप्त कर दी जाती है।"

"अल्मा मैत्रेयी के लेखन का महतवपूर्ण मोड़ है। नैतिक–अनैतिक, सही–गलत, देह और शील से ऊपर अपराधी जनजाति से उठी हुयी अल्मा पिछली नायिकाओं की तरह सिर्फ अस्मिता–बोध और आत्म निर्णयों तक जाकर ही नहीं रूक जाती, कर्म की दुनिया में उतरकर उस राजनीतिक सत्ता में हिस्सा मांगती है जो अभी तक सिर्फ पुरूष वर्चस्व गढ़ रही है।

अल्मा इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि दलितों से आगे जाकर अपराधी जनजाति की दुनिया और विशेषकर स्त्री समाज को हमारे सामने खोलती है। कबूतरा जनजाति के लोगों को कज्जा (संभ्रांत) समाज के लोग चोर डाकू की तरह देखते हैं – बचते हैं। वे या तो जेलों में रहते हैं या जंगलों में। उनकी औरते अफसरों और कज्जाओं के बिस्तरों पर। रांगेय राघव के (कब तक पुकारूँ) बाद अल्मा पहली बार हमारा उनसे परिचय करवाती है।"[55]

'अल्मा कबूतरी' में कबूतरी समाज की स्त्री कबूतरा जनजाति की होने के कारण खानाबदोश जीवन के कष्ट तो झेलती ही है, स्त्री होने का कष्ट भी उसे झेलना पड़ता है। कबूतरा स्त्री कदमाबाई, मंसाराम कज्जा के बेटे की माँ, भूरीबाई और रामसिंह की बेटी अल्मा ये स्त्रियाँ कबूतरा जनजाति के साथ स्त्री होने के कारण

संघर्ष और पीड़ा की स्थिति से लगातार गुजरती है। अल्मा अपने संघर्ष से अंततः राजनीतिक सत्ता में शक्ति अर्जित करती है। उपन्यास के अंत में यह नाटकीय स्थिति स्त्री के संघर्ष को उस चरम बिन्दु तक ले जाती है जहाँ से वह शक्ति संपन्न हो सकेगी, अन्याय को रोक सकेगी।

'अल्मा–कबूतरी' जैसे जनजाति विशेष के समाज से उठकर मैत्रेयी शहरी जीवन के पढ़े–लिखे समाज की कलई खोलने 'विजन' (2001) तक आ जाती हैं। 'विजन' की नायिका नेहा पेशे से डॉक्टर लड़की पितृसत्तात्मक समाज से संघर्षरत है। स्त्री की प्रतिभा और उसकी योग्यता का उसके पिता और ससुर के समक्ष कोई मोल नहीं। वह ऑपरेशन थियेटर से उठकर रिसेप्शन की शो पीस स्थिति में पहुंचा दी गई है। 'विजन' की कथा एक साथ दो धरातलों पर हस्तक्षेप करती है। एक तरफ तो यह आधुनिक शिक्षा प्राप्त लड़कियों के उस द्वन्द्व को उभारती है जहाँ उन्हें सिर्फ स्त्री होने के चलते अपने आगे बढ़ने के रास्ते गंवाने पड़ते हैं और अपनी प्रतिभा को कुंठित करना पड़ता है। उसे अपने पेशे में कदम कदम पर पुरूषवादी अहम का न सिर्फ सामना करना पड़ता है, बल्कि तरह–तरह के लांछनों को भी बरदाश्त करना पड़ता है (साली खसम को छोड़ आई तो हर मर्द की दुश्मन हो गई।[56] इसके साथ ही मैत्रेयी नेत्र–चिकित्सा जगत में प्राइवेट आई सेंटर्स के प्राणघातक मकड़जाल और सरकारी अस्पतालों में भ्रष्टाचार व सुविधाओं के अभाव के दुष्चक्र को उजागर करती हैं।''

'विजन' केंद्रित है डॉ0 नेहा पर, जिसके इर्द–गिर्द लगातार आभा दी, नेहा की ही अन्तरात्मा की आवाज बनकर घूमती रहती है। निम्नमध्यवर्गीय परिवार की लड़की नेहा डॉक्टर बनकर भी 'टिपिकल मिडिल क्लास' लड़की है। जिसका विवेक सोया हुआ नहीं है किन्तु जो 'अच्छी लड़की' का मुखौटा नहीं उतार पाती। माँ–बाप खातिर विवाह कर लेती है और पति व ससुर के आगे नतमस्तक रहती है नेहा के जरिये मध्यवर्गीय अभावों में पली लड़की का वह चित्र उभरता है जो परिवार का सुख पाकर धन्य हो जाती है। ''गृहस्थी के कामों से लेकर सेंटर के दिन भर के प्रोग्राम में

पसीना–पसीना होती रहती और रात को नहा–धोकर, सुन्दर नाइट गाउन में महकती हुयी लहराते बाल खोलकर अजय के साथ सुखसेज कर रही होती।''[59] लेकिन अपने भीतर की चेतना में वह एक डॉक्टर है इसलिए छटपटाती है लेकिन निर्णायक स्थिति में नहीं पहुँच पाती।

अपने अतीत की स्मृतियों ओर वर्तमान की छटपटाहट उसे आभा दी से जोड़ देती है। आभा की स्मृतियों में ऑपरेशन को याद करती तो ''प्रयोग के क्षण जो सधे हुए बिम्ब की तरह यहाँ जिस तरह आते हैं उससे नेहा की अंधेरे की ताकत से लड़ने का पता चलता है। 'आकांक्षा की लकीर ही सही नेहा के उस पूरे संघर्ष में विशेष अर्थ रखती है जो अंत तक कायम है।'' (परमानंद श्रीवा, 15 अप्रैल, राष्ट्रीय सहारा), (लेख – 'अंधेरे में अंधेरे के विरूद्ध, पृ0–9)।

'विजन' उपन्यास 'विवाह' संस्था को सवालों के घेरे में खड़ा करता है। पढ़े लिखे पुरूष, पढ़ी लिखी स्त्री के पति बनकर भी स्त्री द्वारा ही समझौता चाहते हैं। (आभा का पति मुकुल)। नेहा का पति अजय अपने और पिता के हाथों हुयी मौत के लिए नेहा के औरत होने का फायदा लेना चाहता है। 'डिक्लेयर द डैथ' टेक एडवांटेज, आफ मोर वुमेन हुड।'

सिर्फ यही नहीं आभा अपने पति से अलग रहना स्वीकार कर जब ईमानदारी से पेशे में लगती हैं तो वहाँ भी उसे सहकर्मी पुरूषों से भद्दे शब्द और घिनौनी हरकतों का सामना करना पड़ता है। इस तरह 'विजन' घर से बाहर तक स्त्री संघर्ष को सामने लाता है। मैत्रेयी इस संघर्ष में नेहा और आभा को अलग–अलग रास्तों से सामने लाती है और उनकी परिणतियाँ भी अलग–अलग होती है लेकिन गहराई से पड़ताल करने पर आभा दी नेहा का ही आत्मपक्ष लगती है। हाँ, बात यह जरूर है कि निर्णय के अधिकार की कमी उसे आभा से दूर रखती है। नेहा की इस स्थिति में समाज की भूमिका को संकेत करके महादेवी ने लिखा है कि ''न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य साधने का अधिकार है, न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरूद्ध कुछ कहने का ..... समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त

और कुछ देना नहीं सीखा, प्रलय की उथल–पुथल में भी शिला के समान स्थिर देखना चाहता है।'' (हंस, 2002, अप्रैल, पृष्ठ–86)।

अगनपाखी (2002) मैत्रेयी के पहले उपन्यास 'स्मृति दंश' (1990) की ही पुनर्निर्मिति है इस अर्थ में कि पात्र सभी वही है, किन्तु कथा एकदम बदली हुयी। रचनाओं में चेतना के विकास के साथ–साथ लेखिका की अपनी चेतना विकसित होती हुयी 'स्मृति–दंश' से 'अगनपाखी' तक आ जाती है। 'स्मृति दंश' मं जो भुवन मर जाती है वही 'अगनपाखी' में अपने अधिकार की लड़ाई लड़ती है। उपन्यास की भूमिका में लेखिका का आत्मकथ्य का अंश यहाँ उधृत है – ''मैं ही खुद को भुवन के रूप में रखकर अपने आप से लड़ रही थी और परिवर्तन के लिए विद्रोह तक जाने में कभी चार कदम बढ़ाती तो दो कदम पीछे हटती।''

भुवन मोहिनी 'अगनपाखी' की नायिका है। बचपन में मौसेरे भाई चंदर के साथ–साथ खेलते–खेलते प्रेम पनप जाता है किन्तु सामाजिक बंधन उन्हें रोकते हैं। बावजूद इसके चंदर और भुवन के संबंध बन जाते हैं। चंदर को गांव से बाहर उसके पिता के घर में रहना पड़ता है। चंदर के पिता अपने बेटे की नौकरी के बदले कुंवर अजयसिंह के छोटे भाई, जो मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से बीमार था, के साथ भुवन का ब्याह करवा देते हैं। पूरी संपत्ति हथियाने के लिए अजयसिंह की योजना सफल हो जाती है। छोटे भाई, भुवन के पति की अस्पताल में मृत्यु हो जाती है। विजयसिंह (पति) की लाश पर भुवन के सती होने के कार्यक्रम के बीच ही भुवन मंदिर के चोर दरवाजे से चंदर के साथ भाग जाती है और अखबार में पढ़ती है कि जेठ ने उसे सती घोषित करके संपत्ति हड़प ली है। भुवन अपने अधिकार के लिए लड़ाई लड़ती है! भुवन की उज़दारी विराटा की सामंती और जड़ व्यवस्था पर कठोर प्रहार करती है। ''कुँवर अजयसिंह का चेहरा पीला पड़ गया जैसे उन्होंने सामने खड़ी बाघिन देख ली हो, जबकि वहां कोई स्त्री उपस्थित नहीं थीं।'' भुवन व्यवस्था के बीच से अपने अधिकार की लड़ाई लड़ती है। अपने सांपत्तिक अधिकारों के प्रति सजग यह नायिका जीवन को जड़ व्यवस्था के आगे खत्म नहीं मानती।

इस उपन्यास में जमींदारों द्वारा अपने हितों के लिए धर्म के इस्तेमाल को दिखाया गया है। डॉ. नामवरसिंह ने इस उपन्यास को एक साथ 'स्त्री विमर्श, संपत्ति–विमर्श व सती विमर्श' का उपन्यास कहा है।

भारतीय समाज में अनमेल विवाह की परिणति और स्त्री को संपत्ति से बेदखल करने की साजिश को यह उपन्यास सीधे–सीधे सामने रखता है। धर्म की भूमिका स्त्री जीवन को कैसे बाँधती है, इस पर भी कटाक्ष मिलता है कि स्त्री के लिए धर्म पुरूष प्रधान समाज की चाल है। किन्तु मैत्रेयी की स्त्री चेतना इन स्थितियों को नकारती है और व्यवस्था (न्याय) के बीच से अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ती है।

मैत्रेयी की रचनाओं की लम्बी श्रृंखला में अब तक प्रकाशित उनकी अंतिम कृति है – "कस्तूरी कुंडलि बसै' (2002) जिसे आत्मकथात्मक औपन्यासिक कृति कहा है। अपने जीवन के आरंभिक 25 वर्षों का संघर्ष, समाज की रूढ़िवादी व्यवस्था को सूक्ष्मता से खोलती है यह कृति। 'कस्तूरी कुण्डलि बसै' के आरंभिक हिस्से में मैत्रेयी ने माँ कस्तूरी का जीवन संघर्ष वर्णित किया है जब परिवार में भाइयों द्वारा लड़की को अर्थ के बदले प्रौढ़ हो चुके व्यक्ति से ब्याह दिया जाता है। कस्तूरी अवसाद ग्रस्त न होकर अपने जीवन–संग्राम में उतर जाती हैं। अपनी शिक्षा जारी करके प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के साथ आजीवन स्त्री के अधिकारों के लिए संघर्ष करती है। वह मैत्रेयी के लिए भी यही चाहती है किन्तु मैत्रेयी अपने जीवन के असुरक्षित माहौल से बचना चाहती है और ब्याह की घोषणा कर देती है कि 'मेरा ब्याह कर दो।' अपनी शिक्षा के दौरान बचपन से लेकर युवावस्था तक लड़की पुरुषों के चंगुल में फँसती अपने को बचाती परेशान होकर पुरूष की सुरक्षा में चैन चाहती है। मैत्रेयी का विवाह डॉक्टर पुरूष से हो जाता है। किन्तु पढ़े–लिखे परिवार में भी रूढ़ियों की उपस्थिति मौजूद होती है। लड़की पैदा होने पर उपेक्षा मिलती है। इसी दौरान पति पुरूष जो पढ़ा–लिखा डॉक्टर है, उच्च शिक्षित पुरूष का दोहरा चेहरा सामने आता है। उपन्यास में मैत्रेयी के विवाह के समय अनेकों दबंग स्त्री पात्र सामने आते हैं और समाज की तर्कहीन रूढ़ियाँ सामने आती हैं जिनसे कस्तूरी भी हार मान लेती है। मैत्रेयी ने

अपने जीवन में आस–पास की घटनाओं को बड़ी सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ इस कृति में उकेरा है। मैत्रेयी के विवाह के समय की समस्याएँ, जहाँ वर की तलाश कस्तूरी के लिए कठिन काम हो जाता है। मैत्रेयी जहाँ रहती है, वहाँ पड़ोस में एक पति अपनी पत्नी का अपनी आँखों के सामने रोज बलात्कार करवाता है। ऐसे मार्मिक प्रसंगों को सामने लाकर मैत्रेयी ने कस्तूरी और अपने जीवन के प्रसंगों को स्त्री–विमर्श के दायरे में खड़ा कर दिया है। हिन्दी में आत्मकथात्मक कृतियों में यह कृति महत्वपूर्ण कड़ी होगी।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कहानियों से आरंभ करते हुए तीन कहानी संग्रह और नौ उपन्यास लिखकर मैत्रेयी ने अपनी रचना–यात्रा में स्त्री–चेतना का जो व्यापक फलक बनाया है वह भारतीय समाज की स्त्री की समस्याओं को सामने लाकर विमर्श की स्थिति को स्पष्ट करता है। साथ ही समाज की विद्रूपताएँ भी सामने आती हैं जो विकास के मार्ग में धुन है। मैत्रेयी ने केवल समस्याएँ ही नहीं उकेरी, उनके अलग, अलग विकल्प भी प्रस्तुत किए हैं। निश्चित ही मैत्रेयी की यह कथा–यात्रा स्त्री–विमर्श का व ह पुख्ता धरातल बनाती हैं जिसकी भारतीय समाज को जरूरत है।

संदर्भ सूची :

1. मैत्रेयी पुष्पा, मैं और मेरा समय, लेख, 'अपने भीतर का समय', सम्पादन–नीलाभ, पृ0–97
2. वही, पृ0–99
3. वीरेन्द्र यादव, हंस, सितंबर–1998, लेख –ठहरे नारी समय में प्रतिरोध की दस्तक।
4. मैत्रेयी पुष्पा, 'चिन्हार कहानी संकलन' की भूमिका से उद्धृत
5. मैत्रेयी पुष्पा, मैं और मेरा समय, लेख, 'अपने भीतर का समय', सम्पादन–नीलाभ, पृ0–95

6. मैत्रेयी पुष्पा, राष्ट्रीय सहारा, दिनांक 31 मार्च, 2002, पृ0–9
7. मैत्रेयी पुष्पा, 'अगनपाखी' की भूमिका 'पुनर्नवा' से उद्धृत, पृ0–6
8 मैत्रेयी पुष्पा, मैं और मेरा समंय, लेख, 'अपने भीतर का समय', सम्पादन–नीलाभ, पृ0–97
9. मैत्रेयी पुष्पा, 'चाक' से उद्धृत (आरंभ में)

''मैं मुक्त करती हूँ तुम्हें
मेरे सुन्दर भीषण भय।
मैं मुक्त करती हूँ तुम्हे, तुम थे
मेरे प्रिय और मेरे घृणित जुड़वां, पर
अब नहीं पहचानती तुम्हें, जैसे कि खुद को
मैं मुक्त करती हूँ तुम्हें
अब समूचे दर्द के साथ जो अनुभव
होता मुझे अपनी बेटियों की मृत्यु पर।''

रेड इण्डियन कवयित्री ज्वॉय हाजौं (वीरेन्द्र कुमार बरनवाल द्वारा अनूदित 'रक्त में यात्रा' से)

10. वीरेन्द्र यादव, हंस, सितम्बर, 1998, लेख ठहरे नारी समय में प्रतिरोध की दस्तक।
11. 'चिन्हार' में संकलित 12 कहानियाँ– अपना–अपना आकाश, सहचर, बहेलिए, मन नाहि दस–बीस, हवा बदल चुकी है, बेटी, आक्षेप, कृतज्ञ, भँवर, सफर के बीच, केतकी, चिन्हार।
12. 'चिन्हार' कहानी संकलन, पृ0–145
13. वही
14. मैत्रेयी पुष्पा, 'फैसला' कहानी, हंस, अप्रैल–1993, पृ0–36
15. वही
16. वही

17. वही
18. वही
19. मैत्रेयी पुष्पा, 'ललमुनिया' कहानी, हंस, नवंम्बर–1993, पृ0–23
20. मैत्रेयी पुष्पा, 'रसप्रिया' कहानी, रेणु रचनावली, (भाग–1) में संकलित, सं0 भारत भारती।
21. वीरेन्द्र यादव, हंस, सितंबर–1998, लेख– ठहरे नारी समय में प्रतिरोध की दस्तक।
22. मैत्रेयी पुष्पा, 'रास' कहानी, 'गोमा हँसती है' में संकलित।
23. वही
24. वीरेन्द्र यादव, हंस, सितंबर–1998 लेख– ठहरे नारी समय में प्रतिरोध की दस्तक।
25. 'गोमा हँसती है' में संकलित
26. वही
27. मैत्रेयी, बेतवा वहती रही, पृ0–32
28. इदन्नमम, पृ0–
29. वही, पृ0–
30. वही, पृ0
31. चाक, पृ0–18
32. वही, पृ0–21
33. इदन्नमम
34. वही
35. वही
36. चाक, पृ0–22
37. अगनपाखी, पृ0–7
38. हंस, अप्रैल 2002, पृ0–88

39. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ0–133

40. कथाक्रम, जनवरी–मार्च 2001, पृ–61

41. वीरेन्द्र यादव, हंस, सत्त, 1998, लेख 'ठहरे नारी समय में प्रतिरोध की दस्तंक।'

42. अरविन्द जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृ0–101

43. इदन्नमम, पृ0–189

44. वही, पृ0–10

45. वही, 271

46. वही, पृ0–27,

47. वही, प0–267

48. वही, पृ0–273

49. वही, 81

50. वही, पृ0–83

51. वही, पृ0–83

52. वही, पृ0–94

53. वही, पृ0–175

54. वही, पृ0–269

55. राजेन्द्र यादव, 'आदमी की निगाह में औरत', लेख, दुर्ग द्वार पर दस्तकें, पृ0235–235

56. विजन, पृ0–176

57. वही, पृ0–29

अध्याय-तीन

'चाक' उपन्यास में स्त्री चेतना'

'स्त्री–विमर्श' मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में केन्द्र से परिधि तक मौजूद है। जहाँ उनकी रचनाशीलता कथाओं में 'इतिहास, समाज और संस्कृति' का व्यापक परिदृश्य प्रस्तुत करती है। मुक्ति का सवाल यहाँ केवल देह मुक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह सांपत्तिक अधिकारों से लेकर राजनीतिक अधिकारों तक जाकर पूरे सांस्कृतिक ढाँचे से जुड़ता है। ऐसी ही कृति है उपन्यास 'चाक', जिसमें स्त्री की सम्पूर्ण मुक्ति के व्यापक परिप्रेक्ष्य को गाँवों में ले जाकर मैत्रेयी 'स्त्री विमर्श' को ही विस्तार देती हैं। जहाँ खेती से जुड़ी किसान स्त्रियों की मुक्ति की चिंता है।

'चाक' की कथा के केन्द्र में है भारतीय किसान स्त्री। जो गाँव की विद्रूपताओं से लहूलुहान है, किन्तु वह गाँव में उग आये भ्रष्टाचार, कायरता और गुण्डागर्दी के काँटों को बीनना चाहती है। अन्तस को चाक करते मौजूदा स्त्री–शोषण के हालातों से छटपटाती स्त्री की चेतना शिक्षा का वह 'चाक' तलाशती है जहाँ ज्ञान की मिट्टी से गूंथकर वह निर्मिति तैयार हो सके जो अन्याय को रोक सके। पूरी कथा में मौजूद सभी स्त्री पात्र अपनी–अपनी मौजूदा परिस्थितियों में संघर्षरत हैं।

उपन्यास की मुख्य नायिका का मोहक नाम है – सारंगनैनी। जिसके माध्यम से लेखिका ने घरेलू किसान स्त्री को राजनीतिक धरातल पर पहुँचाया है। स्त्री शक्ति सम्पन्न बनकर, घर से बाहर तक की इस संघर्ष–यात्रा में ऐसे कई मिथक और मान्यताएँ तोड़ती गई है जो स्त्रियों को कमजोर मानती है। वहाँ स्त्री बलवान होने का सपना देखती है और जो सोचती है उसे व्यवहार में लाने पर उतारू है। अन्याय सहती, जुझारू स्त्री अंततः साहसी होकर सामूहिक शक्ति को साथ लेकर अन्याय को पूरे गाँव से समूल उखाड़ देने को उद्यत होती है। ऐसी संघर्षशील, तेज की धनी स्त्री है सारंगनैनी। ''चंपई रंग, सुंदर मुँह, दुबली पतली लड़कियों जैसी देह और चेहरे पर बच्चों जैसा भोला भाव। अठारह साल से ज्यादा की नहीं लगती।' (पृष्ठ 80, 'चाक')

"सारंग को कन्या गुरूकुल में कक्षा ग्यारह तक पढ़ी बताया जाता है, मगर कोई उसे चिट्ठी लिखने के लिए कहे तो उसकी उंगलियाँ और दिल की भीतरी तहें साथ–साथ काँपने लगती हैं।" (पृ. 27, चाक) जिस दिन ब्याहकर आई थी, पति रंजीत सहित उनके भाई और पिता का सीना गज–गज चौड़ा हो गया था। ऐसी बहू, जो संस्कृत के शुद्ध श्लोक बोले, अर्थ करे, बनियों के घर में भी नहीं आई। इतनी लियाकत से रहने वाली सारंग। बाबा (गजाधरसिंह, ससुर) घर को देख–देखकर सिहाते। विद्वान् बहू हर बात की ऊँच–नीच, संभाल–सुधार जानती है – सबसे कहते। गृहस्थ तप है। हमारी सारंग बड़ी समझदारी से काम लेती है।" पति रंजीत ने कहा – "सारंग घर की मान–मर्यादा रखना। पर्दा मुझे खुद अच्छा नहीं लगता। बस दलवीर भइया और दादा की आड़ कर ली। वैसे घूँघट में तुम बहुत अच्छी लगती हो।' तारीफ का नशा सिर चढ़कर बोलता है। वह गृहिणी का फर्ज निभाती हुयी तारीफें लूटती रही। ज्यादा से ज्यादा बन्धनों में जकड़ती गई। भूलने लगी गुरूकुल में पढ़ी विद्या। रहन–सहन, भाषा बोली, पढ़ने–लिखने की आदत बीते जमाने की बात हो गई।" (पृ.225) सारंग स्वयं सोचती है "वह सारंग कहाँ गई, जो गुरूकुल से अनुशासन भंग करने और लड़कियों को सिखाने के जुर्म में निकाली गई थी। गृहस्थ ने कमजोर कर दिया है मुझे जो सुरक्षा पर सुरक्षा ढूँढती हूँ?" (पृ. 22)

सारंग नैनी बचपन से ही तेज स्वभाव की थी। भाई सौराज से होड़ करती तब सौतेली माँ कहती – "सारंग, तेरी आदतें तुझे ही दुःख देंगी। बेटी की जात ..... इतनी खुद हिम्मत।" (पृ. 140) गुरूकुल में पढ़ते हुए सारंग ने बंधनों को तोड़ा और साथिनों में भी विद्रोह और विरोध की आग भरी। लड़कियों की आजादी को लहूलुहान करते गुरूकुल की पहली शर्त थी लड़कियों के जीवन को कठोर नियमों से बाँधना। किन्तु 'सत्यार्थ प्रकाश' के बीच में रखकर 'ऋतुसंहार' पढ़ती सारंग 'शिरोरुहै श्रोमितरा बल्लिभि .....' रटकर बाल खोलकर छाती पर डालकर अपनी जवान देह निहारती है और भोग की इच्छा से स्वयं को शास्त्री जी के कमरे में जाने से नहीं रोक पाती। उनकी बाहों में फिसल रही होती है कि तभी भड़ाक से दरवाजा खुलते ही सूचना

मिलती है कि साथिन शारदा बर्तन माँजने वाले लड़के की बाहों में रंगे हाथों पकड़ी गई। जिसे बतौर सजा अंधेरी कोठरी में बंद करके खाने के नाम पर नमक का पानी दिया जाता है। लड़की की जरा सी इच्छा पर दी जाने वाली इस कठोर सजा का सारंग साथिनों के साथ मिलकर विरोध करती है। एक अन्य लड़की शकुन्तला को शास्त्री जी से गर्भ ठहरा जो उसके पिता भी उसे वापस नहीं ले गये। उसने आत्महत्या कर ली। सारंग ने मौन विद्रोह किया तो उसके पिता को बुलाकर उसे उद्दण्ड कहकर गुरूकुल से निकाल दिया गया।

बचपन से ही अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाने वाली सारंग–नैनी ने गृहस्थ के चलते स्वयं को बदल दिया। इतना बदल डाला कि अब वह सारंग नहीं, केवल रंजीत की बहू है। सारंग सोचती है – "अपने आपको सब तरह से बदल डाला मैंने। गुरूकुल की बोली भुला दी। कपड़े लत्तों का पहनना–ओढ़ना .... एकदम बदल दिया। कोई कह सकता है कि कभी यज्ञ किया होगा मैंने? मन्त्र, श्लोक बोले होंगे? 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ा होगा? 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'कुमारसंभवम्' पढ़े होंगे? यह घूँघट वाली औरत अब रंजीत की बहू है, सारंग नहीं।

..... मगर यह पिछले सोच विचारों वाली कील? कहाँ अटकी रह गई कोई किर्च?" (पृ. 93)

स्त्री जो अपने स्वभाव से सहज है घर में शान्ति चाहती है। सुरक्षा और तारीफ में ही सर्वसुख पा लेना चाहती है। लेकिन पढ़ी लिखी चेतस स्त्री की आत्मसजगता आस–पास हो रहे अन्याय को देखकर छटपटाती है, विरोध करती है और गाँव के विकास का सपना देखती है। पति परायणा स्त्री सारंग अपने पति के हाथों इन मंसूबों को पूरे होते देखना चाहती है। सारंग नैनी ने गृहस्थ के चलते स्वयं को भले ही 'सारंग' से 'रंजीत की बहू' में बदल डाला, लेकिन अन्तस में धँसी रह गई चेतना की कील उसे बार–बार उकसाती है, तभी वह डरते–डरते ही सही साहसी होकर जो सोचती है, उसे व्यवहार में ले आती है।

उपन्यास का आरंभ, सारंग की फूफेरी बहन रेशम की हत्या की सूचना से होता है। इस घटना से बेचैन सारंग छटपटाती है। वह चाहती है कि उसका पति रंजीत हत्यारे को सजा दिलवाये। रेशम की हत्या उसे छोटे जेठ डोरिया ने उसके ऊपर बिठौरा (कंडा और गोबर से बना घरौंदा) ढहाकर की। रेशम की स्वतन्त्र जीवन जीने की इच्छा ही उसकी मौत का कारण बनी। रेशम का पति करमवीर फौज में भर्ती था। जहरीली शराब पीने से उसकी मृत्यु हो गयी। रेशम विधवा हो गई, किन्तु रेशम ने विधवा स्त्री के लिए बनाए गए निषेधों को नकार दिया। सामाजिक विधानों की परवाह किए बिना जब रेशम छः माह के भीतर गर्भवती हुयी तब उसने इस बात का ऐलान किया कि वह इस गर्भ को गिरवायेगी नहीं और न ही जेठ डोरिया को बच्चे के बाप का नाम देगी। वह इस बच्चे को जन्म देकर अपना जीवन जिएगी और इसी घर में, जो उसका अपना घर है, उसमें हक से रहेगी। रेशम की यह बेबाक वाणी उस जाट स्त्री समाज की औरत के मुँह से निकली है, जहां विधवा स्त्री के हितों की चिंता की जाती है। किन्तु यह चिंता अपने इस हित को साधते हुए की जाती है कि घर की संपत्ति घर में रहेगी और स्त्री को सुरक्षा भी परिवार के ही अन्य पुरुष के नाम से मिल जाएगी। इस हेतु पति की मृत्यु के बाद विधवा स्त्री को जेठ या देवर के साथ रहने की मान्यता इस समाज में दी गई। संपत्ति और स्त्री पर एक साथ निगाह रखने वाले पुरुष प्रधान समाज को धता बताती रेशम ने अपनी इच्छा से जीवन जीना चाहा। सांपत्तिक अधिकारों के प्रति चेतस रेशम स्त्री के नैसर्गिक अधिकारों के लिए भी किसी विधान की परवाह नहीं करती। कसी ठुसी देह की पच्चीस वर्षीया जवान रेशम ने अपनी सास को तर्क प्रस्तुत किया – "अम्मा, तुम तो बिरथा ही दाँत किटकिटा रही हो। तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग भी बुझ जाती? जीतों मरतों का भेद भी भूल गईं तुम? बेटा के संग मैं भी मरी मान ली?" (पृ0–21, चाक)

रेशम केवल तर्क ही नहीं देती, बल्कि निर्भीकता से निर्णय देती है– "पंचायत जोड़ लो। मैं कह दूंगी, मुझे छेक दो। बच्चा मेरे पेट से पैदा होगा, घर वाले इसमें शामिल ही कहा हैं?" (पृ0–21, चाक)

रेशम के मुँह से निकली इस भाषा पर आलोचक मधुरेश ने सवालिया निशान लगाते हुए लिखा है कि "रेशम की यह भाषा उसके साथ छल करती है। यह अभी हाल में विधवा हुयी उस स्त्री की भाषा नहीं है जो अपने पति को अजहद प्यार करती थी। यह कृष्णा सोबती की मित्रों की भाषा है जो रेशम के मुंह में रख दी गई है। मित्रों अपने पति के कब्जे की लड़ाई लड़ती है, उसके बीच की बाधाओं के प्रति, चाहे वह उसकी सास और जेठानी के रूप में हो या फिर अपनी माँ के, उसका गुस्सा जायज और विश्वसनीय है। लेकिन रेशम के साथ ऐसी कोई मजबूरी नहीं है।"[1]

यहाँ सबसे पहले यह स्पष्ट देखना चाहिए कि रेशम और मित्रों समाज के किस हिस्से की कौन सी स्त्रियाँ हैं? मित्रों वेश्या की बेटी थी और वेश्या को हमारा समाज स्वतन्त्र स्त्री के रूप में देखता है इसलिए वह जब अपने दैहिक अधिकारों की बात करती है तो यह बात जायज हो जाती है, लेकिन विधवा जवान स्त्री रेशम जब अपने नैसर्गिक अधिकारों की पूर्ति चाहती है तो उसके लिए तर्क 'उधार की भाषा' क्यों हो जाते हैं? विधवा स्त्री के लिए यह आरोपित प्रेम 'बंधन' क्यों बनाया गया कि रोते कलपते ही उसे अपनी जिंदगी काटनी है। महादेवी के शब्दों में उसे मृत पति का निर्जीव स्मारक बनकर जीना होता है।[2] जबकि पुरुषों के लिए ऐसा कोई विधान नहीं। जल्दी से जल्दी दूसरा विवाह कर लेने/संबंध बना लेने वाले पुरुष को पत्नी का कोई दुख नहीं, उसकी कहीं कोई निन्दा नहीं होती। बल्कि पत्नी के मौजूद रहते भी ऐसी स्थितियां मौजूद मिलती हैं। तब स्त्री पर पति–प्रेम का बंधन आरोपित करना, वह भी तब जब यह स्त्री जाट समाज की स्वतन्त्र स्वभाव की स्त्री है; स्त्रियों को उनके नैसर्गिक अधिकारों से वंचित रखे जाने का पक्षपातपूर्ण रवैया नहीं तो और क्या है? अब रही बात हाल में विधवा हुई स्त्री का मात्र पाँच माह में ही गर्भवती हो

जाने की – तो क्या एक वर्ष बीत जाने के बाद यह बात सहज मान्य हो जाती? कहने का तात्पर्य यह है कि रेशम की भाषा 'मित्रो की भाषा' नहीं है। रेशम जाट परिवार की स्त्री, स्वतंत्र जीवन जीने की इच्छुक अपने नैसर्गिक और सांपत्तिक अधिकारों के प्रति चेतस है। यही बात उसकी भाषा में मौजूद है। गौरतलब बात यह है कि मित्रो चूकि वेश्या की बेटी थी, इसलिए उसके द्वारा ऐसी भाषा जायज हो गई और रेशम निडर होने की स्वतंत्र इच्छा के कारण मौत के घाट उतार दी जाती है।

रेशम की स्वतंत्र इच्छा की समर्थक सारंग नैनी यह मानती है कि रेशम की हत्या अन्याय है और अन्यायी को सजा मिलनी चाहिए। इस हेतु वह अपने पति रंजीत से उम्मीद बांधती है। रंजीत एम0एस0सी0 (एग्री0) की डिग्री लिए पढ़े लिखे इन्सान हैं जो नौकरी न मिलने के कारण गांव में खेती करते हैं। सारंग चाहती है कि रंजीत न्याय के लिए पहल करे। रंजीत मुकदमा करता है किन्तु गवाहों के बयान बदलवाकर डोरिया छूट जाता है। रंजीत के लिए यह मान–अपमान की बात बन जाती है। एक दूसरा कारण यह भी है कि वह प्रधान फत्तेसिंह के जाल में फँसकर, प्रधानी के लालच में उन्हें के अनुकूल कार्य करने लगता है और रेशम को सजा दिलवाने के प्रति ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहता, बल्कि डोरिया की धमती से डरकर अपने बेटे चन्दन को भाई दलवीर के पास शहर भेज देता है। जबकि सारंग निडर है उसने डोरिया के धमकाने पर "आव देखा न ताव, लात मारी उसकी जांघों के बीच। . . . तिलमिला गया डोरिया।" (पृ0–46, चाक) सारंग चन्दन को बाहर नहीं भेजना चाहती और न ही उसे रंजीत का डरना और प्रधान के अनुसार काम करना अच्छा लगता है। वह लड़ना चाहती है, अन्यायी को सजा दिलवाना चाहती है और गांव का विकास चाहती है। वह सोचती है "मैं पागल हूँ कि तुम बेजार हो? मेरी बुद्धि पर भरोसा नहीं तो रंजीत ही क्यों नहीं बताते कि मैं किसके लिए लड़ना चाह रही हूँ? अपनी बहन के लिए, चन्दन के लिए? या अपने और रंजीत के लिए. . . ? क्या इस जंग में हम बराबर के शरीक नहीं?" (पृ0–88, चाक)

बेटे चन्दन को बाहर भेज दिए जाने से सारंग की आस टूटने लगती है। दोहरी पुरुष मानसिकता वाले पति रंजीत से उसकी उम्मीदें टूटने लगती हैं। वह स्वयं ही ऐसा ताना–बाना बुनती है कि अन्यायी, हत्यारे डोरिया को सजा मिल सके।

सावन में रक्षा–बन्धन पर अखाड़े में डोरिया को पहलवानी में हराने से जब रंजीत मना कर देते हैं तब वह रंजीत को बिना बताए भँवर द्वारा रिश्ते में ननदोई लगते ताड़फड़े वाले कैसासी सिंह पहलवान को बुलवाती है। कैलासीसिंह से डोरिया हार जाता है। सारंग खुश होती है। वह सोचती है "औरत होकर बलवान होने के सपने देख रही हूँ। लग रहा है ताड़फड़े वाले नहीं लड़ रहे हैं, मैं ही अखाड़े में जूझ रही हूँ ।" (पृ0–109, चाक)

कैलासीसिंह पहलवान के इस प्रकरण में स्त्री–पुरुष के प्रति दोहरा मानदण्ड रखने वाले समाज का वह मिथक टूटता है, जिसके अनुसार 'नारी नरक का कुंड है और पुरुष को यदि नारी छू दे या उसकी छाया मात्र पड़ने से पुरुष भ्रष्ट हो जाता है।' गुरुकुल से ही स्त्री–पुरुष संबंधों में दोहरे मानदण्ड वाले समाज से घृणा करती सारंग कैलासीसिंह से कहती है, "सोचो, ननदोई जी, मर्द औरत को छूता है और उसका उद्धार करता है. . . मगर औरत मर्द को छुए तो पाताल में डुबो दे। ऐसा क्यों? अजब बात गढ़ी है यह?. . . ।"(पृ0–100, चाक) इसी अजब बात का खण्डन करती हैं कलावती चाची, जो कैलासीसिंह की देह में अपनी देह का सत्त भरकर उनकी पहलवानी वापस ला देती हैं। 'यह ठीक वैसे ही घटित होता है जैसे माँ अपने नपुंसक बेटे को ठीक करने के लिए शर्म लिहाज छोड़कर धर्म निभाती है।' (मैत्रेयी के लिए गए साक्षात्कार पर आधारित)।

'दूरंदेखी बात है पुरिख नारि से हीन /सत्रह बिस्वे इस्तरी पुरिख है बिस्वे तीन।'

दोहा कहने वाली कलावती चाची जाटिनी हैं, जाट स्त्री की स्वतंत्र मानसिकता को प्रस्तुत करती हुयी कहती हैं– "चल लुच्ची! हम जाटिनी तो जेब में बिछिया धरे

फिरती हैं। मन आया ता के पहर लिए।''(पृ0–104, चाक) स्त्री यहां अछूत नहीं रह जाती, बल्कि वह अपनी देह का जीवन रस पुरुष को समर्पित करके 'नरक का कुंड' होने का मिथक तोड़ती है। इस प्रकरण के संबंध में आलोचक निर्मला जैन ने टिप्पणी की है कि '' 'चाक' में ताकत के इस खेल में स्त्री का वर्चस्व स्थापित करने के उत्साह में पुंसत्वहीन कैलासीसिंह पहलवान के पौरुष को जगाने के लिए जिस तरह कलावती चाची का इस्तेमाल किया जाता है, वह असाधारण को साधारण बनाकर प्रस्तुत करने की कृच्छ साधना है। स्त्री–शक्ति को उजागर करने के अतिरिक्त उत्साह में लेखिका ने अनजाने ही उसका उपयोग कुश्ती की खुराक या वियागरा की कैप्स्यूल की तरह कर डाला है। उपन्यास के कथ्य की दृष्टि से भी यह प्रसंग इसलिए बेठिकाने हैं, क्योंकि यह स्त्री की क्षमता शक्ति को उतना प्रकट नहीं करता जितना देह धर्म के मामले में पुरुष की बेचारगी और पुंसत्वहीनता को। जिस दैहिक क्षमता को वह अपनी शक्ति समझता है, उसी के न होने पर वह वास्तव में बेबस और स्त्री–निर्भर हो सकता है– इस प्रसंग की नियोजना यही जाहिर करने के लिए की गई है।''[3]

यहाँ सवाल यह उठता है कि आखिर कब तक पुरुष की देह क्षमता ही सर्वोपरि रहेगी? और स्त्री की देह अछूत और भ्रष्ट करने वाली रहेगी। जब इस मिथक को कोई लेखिका तोड़ती है तो महिला आलोचक ही उसे 'अतिरिक्त उत्साह में असाधारण को साधारण बनाकर प्रस्तुत करने की कृच्छ साधना कहती हैं। स्त्री रचित साहित्य की ऐसी स्थापनाओं के प्रति न्याय हो सके इसके लिए आलोचना के स्तर पर आवश्यक है वह 'स्त्री दृष्टि', जिसकी वकालत चंद्रा सदायत ने 'साहित्य में स्त्री दृष्टि' नामक अपने लेख में की है। उनके अनुसार ''. . आलोचना में ऐसी स्त्री दृष्टि का विकास जरूरी है जिसमें शक्ति सक्रियता और दृढ़ता से भरपूर विचारशीलता हो। . . .. जब मैं आलोचना में स्त्री–दृष्टि के विकास की बात कर रही हूँ तब मेरा आशय भारतीय समाज, उसके इतिहास और संस्कृति के अतीत तथा वर्तमान की नारी विरोधी सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष करने में सक्षम आलोचना से है। यह समालोचना एक

ऐसी सभ्यता और संस्कृति के विकास की संभावनाओं की तलाश भी करेगी जिसमें स्त्री–पुरुष के प्रभुत्व का शिकार नहीं होगी।"[4]

इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो निर्मला जैन की टिप्पणी आलोचना की पुरुष–प्रधान परंपरा के अनुरूप साहित्य में चले आ रहे ट्रेन्ड के प्रति प्रतिबद्ध लगती है। जो स्त्री जीवन की जटिलताओं को खोलने में सहायक नहीं होती। स्त्री का जीवन ऐसी जटिलताओं से गुजरता है जहां पुरुष (पति) अपनी नपुंसक स्थिति को स्वीकार नहीं करता किन्तु स्त्री (पत्नी) को बांझ घोषित करके उससे संबंध ही तोड़ लेता है। उपन्यास 'चाक' ऐसी जटिल परिस्थितियों को न केवल सामने प्रस्तुत करता है, बल्कि उन जटिलताओं को इस तरह खोलता भी है, जहां जटिलताओं में उलझी, फँसी हुयी स्त्रियों को उनके लिए अलग–अलग रास्ते भी उपलब्ध होते हैं।

कैलासीसिंह को बुलाना सारंग के लिए डोरिया को हराने का माध्यम भर है जबकि यही बात रंजीत के मन में सारंग के प्रति विष भर देती है। कारण कि जो रंजीत कर सकता था वह वाहवाही कैलासीसिंह को मिली। और उसकी पत्नी सारंग अन्य पुरुष की बल प्रशंसा से प्रभावित हो, यह बात पत्नी पर एकाधिकार रखने वाले पति रंजीत को कैसे बर्दाश्त हो?

भले ही किसी अन्य माध्यम से सही, पर डोरिया जैसे अन्यायी को सबक सिखाकर सारंग प्रसन्न होती है। किन्तु बाबजूद इस सबके, सारंग अपने बेटे चन्दन के पास न होने से दुखी है। स्कूल में नए मास्टर के आने से आश्चर्य चकित होती है, ओर नेकसें मास्साब के तबादले से परेशान होती है। "स्कूल माने चंदन। अर्थात स्कूल के बारे में सोचना बेहद तकलीफदेह बात है। सारंग की पीड़ा कि चंदन क्यों अलग हो गया मुझसे? उसे क्यों जाना पड़ा यहां से ? सारंग जानती है "यह गाँव बड़े होकर शहरी चंदन को रास नहीं आएगा। यहां तो केवल वे रहते हैं जिनके लिए दुनिया का हर द्वार बन्द है– गांव का मतलब पढ़े–लिखे लोगों के दिमाग में इससे ज्यादा कुछ नहीं।" सारंग चाहती है कि "मेरा बेटा अतरपुर की प्राइमरी पाठशाला से

होता हुआ जवाहर इंटर कालिज में पढ़ता। अलीगढ़ से शिक्षा लेकर अपने गांव की ओर रुख करता। पिता की खेती को चार चाँद लगाता। और मैं उसे भँवर की माँ की तरह उसकी पढ़ाई के ताने उलाहने न देकर प्यार से दुलराती, आँचल में भर लेती। यह आँगन और गाँव गुलजार हो उठता। काश, ऐसा हो। एसा ही हो जाए। स्कूल की खसता हालत में यह मास्टर ही नई ईंटें, सीमेंट लगाकर इसको नया रूप दे । हे भगवान, ऐसा ही करना।" (पृ0–123, चाक) सारंग को गांव की चिंता है वह शिक्षा का दीप जलाकर गांव का विकास चाहती है।

सारंग सपना देखती है भोर में। भोर की होन में आया सपना दिन भर आँखों में छाया रहता है। सारंग के सपने में चंदन कहता है– "अम्मा, मैं जंगल में भटक रहा हूँ। देखो, मुझे रास्ता नहीं मिलता। मेरे कपड़े मैले, मेरे हाथ–पाँव चीकट। कंजरों का सा बालक, पर हाथ में तलवार। लाल–लाल आंखें सिन्दुरिया चेहरा।"(पृ0–128, चाक) (उपन्यास में काफी दूर तक यही सपना सारंग की आंखों में बना रहता है)। सारंग ग्रामीण बालक के हाथ में शिक्षा की तलवार देना चाहती है, ताकि वह साहसी बने, अन्यायी को सजा दे और रण छोड़कर न भागे। चट्टा–चौथ में आये बच्चे गीत गाते हैं तब उस गीत के अर्थ से ठीक ऐसी ही ध्वनि फूटती देख सारंग मास्टर के पांवों में झुक जाती है। वह गीत यहां उद्धृत है–

"हम ना भगिहैं रण समुहे से चाहे प्राण रहे या जायँ
समुहे रहिके जो मरि जैहै, हुइहैं जुगन–जुगन तक नाम।
जहाँ पसीना बहै तुम्हारा, तहाँ दै दऊँ रकत की धार।
हम लड़िका जब समरथ हुइहैं, हुइहैं सबै तुम्हारे काम ।. . .

सारंग एक–एक पंक्ति ध्यानपूर्वक सुनती है। तो तुम वही हो मास्टर, जिसकी मुझे तलाश है। तुम बहादुरी के नाम पर मक्कारों के किस्से नहीं सुनाते। इन छोटों–छोटों के दिल में वीरता का बीज बोने आए हो। तुम जरूर दुश्मन के सामने सीना तानने का हौसला रखते होगे। इस गांव में कायरता और गंडई का बोलबाला है। हम यहाँ अंधेरों में घिर गए हैं मास्टर। मुझ जैसी घूंघट में आंखें छिपाए कितनी

माएँ तुमको देख रही हैं, तुम्हें क्या मालुम? तुम ध्यान से देखोगे तो देख पाओगे– यहाँ खून के धब्बे और हड्डियों के ढाँचे. ।"(पृ0–131, चाक)

श्रीधर से सारंग में आशा की किरण पुनः जागती है जो रंजीत के कारण छिपने लगी थी। सारंग का श्रीधर के पांवों में झुक जाना गाँव में कई तरह के फसाद की जड़ बन गया। स्त्रियाँ चरित्र–सन्देह करके तिल का ताड़ बनाने लगीं। जात–पांत की बातें उठीं, क्योंकि कुम्हार जाति के मास्टर और परपुरुष के पाँव ब्याहता, जाट स्त्री ने छू लिए थे। पति रंजीत ने समझाया– "गाँव की निगाह में तुम रंजीतसिंह जाट की बहू हो, यही तुम्हारी पहचान है। और हम जिस कौम, जिस समाज से जुड़े हैं उससे अलग अपना वजूद नहीं रखते।. . . कल को गली में चलते लोगों की घृणा और निंदा के विष में बुझी निगाहों को झेल लोगी? सारंग जिस पाठशाला–प्रेम की दुहाई देकर मुझे समझा रही हो न उसी से आँखें चुराती फिरोगी।"(पृ0–143, चाक) लेकिन इस मानसिकता से अलग सारंग सोचती है कि "अपने मन से जो कुछ किया उसका फैसला करने वाला कोई दूसरा कौन होता है? भगवान आज का दिन ही मेरे घावों में मरहम बन जाए। इस मास्टर ने बच्चों को इशारा किया था या मुझे? (पृ0–132, चाक) ."कोई सुन सकता होता तो बता देती कि मेरे मन की आशा बुझी जा रही थी, दो बूँद नेह जुटा लिया ऐसा करके।"(पृ0–143, चाक)

"श्रीधर के बारे में सोचते ही सारंग आशा आकांक्षाओं के बीज बोना शुरू कर देती है।"(पृ0–34, चाक) क्योंकि श्रीधर ही है जो उसके बेटे का भविष्य विद्या के चाक पर चढ़ाकर उसके बेटे को निर्भीक और साहसी बनाएगा। और उसका जीवन भविष्य लापरवाह अध्यापकों और भ्रष्ट अफसरों की जालसाजी से बच सकेगा। सारंग सोचती है कि "कोई तो कहेगा, हमें अच्छे से अच्छा गाँव दो, स्कूल दो।" (पृ0–154, चाक)

सारंग के श्रीधर से जुड़ने की तरह ही श्रीधर का भी सारंग से जुड़ने का कारण है। सारंग अपने बेटे की चिन्ता से दुःखी है। वह अपने बेटे की चिट्ठियाँ मास्टर को दिखाती है और बताती है कि पति रंजीत उसकी बात नहीं सुनते। बेटे के लिए दुःखी सारंग को देखकर श्रीधर को अपनी माँ की याद आ जाती है, जो गर्भावस्था में पीहर चली गई थी। जाते समय पिता की मजबूत बाहों ने उन्हें माँ की गोद से खींच लिया था। "अम्मा का चिंघड़ भरा विलाप . . . छीन लो, छीन लो। तुम मुझे ज्यादा से ज्यादा दुःख दो ऽ ऽ ऽ . . . . "माँ के दर्द में कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं– रेशम की दर्दनाक मौत! बाँदीपुर में भेड़ियों से घिरी केका। और यह सारंग . . . ये स्त्रियाँ उनकी माँ की छवि में तिर आती हैं।"(पृ0–181, चाक)

श्रीधर को यह देखकर सदा आश्चर्य होता रहा है कि जानवरों के बाद अगर किसी को खूँटे से बांधा जाता हे तो वे हैं आँगन लीपती, घर सहेजती, खेतों में काम करती औरतें। श्रीधर को शहरों में पनप रही विभिन्न संस्थाओं के नाम याद आते हैं– नारी उत्थान केन्द्र, सहेली, जागो री, नारी सहायता केन्द्र. . . पता नहीं वे किन नारियों के लिए हैं? प्रौढ़ शिक्षा, नारी शिक्षा पर व्याख्यान देने से फायदा? यहाँ तो बेटी का जन्म होते ही खेरापतिन दादी चन्दना की कथा याद कराने लगती है कि बेटी जन्मी है तो इसे खबरदार भी करिती रहना इसकी जननी। . . . परिवार नहीं सन्तान का मोह इनको जीने की हिम्मत देता रहता है।– श्रीधर जिन बालकों को पढ़ाते हैं उनकी माताओं के दुःख।" (पृ0–345, चाक)

यही चिंता श्रीधर को सारंग से जोड़ती है।

सारंग के लिए श्रीधर दो टूक बात कहता है–"पहले तुम घबराना छोड़ दो। तुम चन्दन की माँ हो, और मत भूलो कि माँ बच्चे को जन्म देती है, वह पिता से कई गुना साहसी होती है।"(पृ0–155, चाक)

सारंग फैसला लेती है "मैं किसी के गिराए नहीं गिरूँगी। मेरा अपना है मेरा चंदन। मेरा बेटा। उसे बुलाना होगा।" अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए, पति

से अपना अधिकार लेती सारंग अपने बेटे को वापस बुला लेती है। अपने बेटे के साथ वह 'जंग' में चलने की तैयारी करके अपने बेटे को वह मास्टर के चरणों में सौंप देना चाहती है ताकि बेटा साहसी बने। सारंग सोचती है, "चंदन, तेरा दिल जरूर लोहे का ठोस और मजबूत है। आज मैं जान गई तू गजाधरसिंह का नाती . . . डोरिया की हत्यारी उंगलियों से नहीं डरेगा। तू भूरा और खूबी की पैनी बल्लम के आगे अपनी छोटी सी छाती तानकर खड़ा हो सकता है– मेरे बेटे! तुझे नहीं पता, हम दोनों को ज़ंग के मोर्चे पर चलना है।"(पृ0–160, चाक)

सारंग दुहरी–तिहरी जंग लड़ती साहस का रास्ता अपनाती अपने पति से टकराती है क्योंकि वह अपने अहं और झूठे मान के कारण सारंग और चंदन दोनों को श्रीधर से अलग रखना चाहता है। सारंग को घर की चाहरदीवारी में पर्दे के पीछे कैद करना चाहता है। और अवसरवादी पुरुषों की भांति अपने फायदे के लिए अपनी पत्नी को अन्य पुरुष के पास भेजने से कोई गुरेज नहीं करता। रंजीत, सारंग को श्रीधर के पास भेजता है, ताकि वह उससे उस कागज पर दस्तखत करवा लाये, जिससे प्रधान और उसे फायदा होता। किन्तु सारंग जब स्वयं श्रीधर से मिलती है तो वही पति उसका अपमान करता है, उसकी पिटाई भी कर देता है। उसकी इच्छा का कोई सम्मान नहीं। सारंग साहसी स्त्री है लेकिन सारंग का संसार गृहस्थ है, जहाँ घर की शान्ति के लिए औरत बहुत कुछ सहन करती चलती है। घर का चौका–चूल्हा, बर्तन, झाड़ू–बुहारी उसके सुख–दुख में कभी नहीं छूटते। साहसी सारंग चार कदम आगे बढ़ाती तो दो पीछे खींचती है। वह सोचती है–"मैं दूसरी औरतों की तरह क्यों नहीं रहती? मैं जो कर रही हूँ, गाँव में और कोई क्यों नहीं कर रही? जो बातें गलत हैं, उनको औरतें गलत भी मानती हैं, पर मर्दों की दुनिया में दखल तो नहीं देतीं।"(पृ. 140)....."मैं कैसी औरत हूँ, स्त्री को प्रकृति के अनुरूप तिलरी–चुनरी की सुनहरी पचरंग कल्पना ने मेरे भीतर कोई लहर क्यों नहीं उठाई? उल्टे नस–नस को लकवा मार गया। "(पृ. 374)..." सारंग के लिए तिलरी– चुनरी गहना–कपड़ा नहीं, बेड़ियाँ और कफन के मानिंद हैं। वह तो गीत कथा की नायिका चंदना,

गुरूकुल की खलनायिकाएँ शारदा, शकुंतला और गांव की राक्षसिनियां रेशम, और गुलकन्दी के जीवन का हिसाब मांगती हैं।" (पृ. 374, चाक)

सारंग नैनी गांव की दूसरी औरतों को तरह सब कुछ जानकर भी अनजान बने रहने का ढोंग नहीं करती । वह संरक्षक कहे जाने वाले पुरूषों को भी सवालों के दायरे में खड़ा करती है–(रेशम की मौत पर चुप्पी साधे पुरूषों पर सवाल) "मेरे ससुर गजाधर सिंह,चचिया ससुर खूबाराम, ग्राम प्रधान फतेसिंह, पुराने जमींदार नंबरदार , ग्रामसेठ भवानीदास, पंडित चरनसिंह से लेकर ऊँची–नीची कौमों के तमाम बड़े–बूढें गुमसुम क्यों रह गए? इनकी जिव्हा क्यों लकड़ा गई? ये पुरूष महापुरूष शाबासी के पात्र हैं या धिक्कार के?इनकी लाज–लिहाज हम क्यों करते हैं? हम सारी अवस्था शीश झुकाकर काट देते हैं इंनके सम्मान में क्यों? अन्याय के नाम पर गूंगे हो जाने वाले ये हमारे संरक्षक..... ।"(पृ.14, चाक)

इन्हीं पुरूषों के बारे में श्रीधर ने सोचा कि "औरत से पहले आदमी को ज्ञान देना होगा। उसके संस्कारों को प्रकाश की दुनिया में ले जाने का जोखिम उठाना होगा।" मास्टर श्रीधर शिक्षा का अर्थ देते हैं– मर्दों के कुसंस्कारों और अहं की अशिक्षा को मिटाना, और निजी स्वार्थो से मुक्त होना।"(पृ. 345, चाक)

स्त्री की दर्दशा की जड़ें पुरूष के संस्कारों तले दबी हैं वे तभी उखड़ सकेंगी जब संस्कारों के नए अर्थ खोले जाएं। मैत्रेयी पुष्पा ने इस उपन्यास में संस्कारों के नए अर्थ खोलने के प्रयास किए हैं। जहां से विकास की स्वस्थ राहें खुलती हैं।

उपन्यास में सारंग 'करवा चौथ का व्रत रखती है। गाँव की अन्य स्त्रियाँ भी करती है। नितांत जनाना त्यौहार, इसकी मान्यता यह कि पत्नियों द्वारा उपवास रखकर चन्द्रमा को अर्ध्य देने से पति की उम्र बढ़ती है। "विज्ञान ने जिस चन्द्रमा को ऊबड़ खबड़ और आक्सीजन रहित ग्रह बताया है, उसी चन्द्रमा को अर्ध्य पुजा समाप्रित करके स्त्रियाँ अपने पति की सांसों का वरदान मांगती हैं।"[5] लेकिन सारंग नैनी का 'करवा–चौथ का व्रत और अर्ध्य' उपन्यास के पूरे ताने–बाने के साथ जुड़कर

इस संस्कार के नए अर्थ खोलता है। सारंग जब करवा के ऊपर दिया जलाकर लौ को प्रणाम करती है और आंख बन्द करके रंजीत का ध्यान करके मंगल कामनाएं करती है तो मिट्टी का करवा–वंश की निशानी और दीपक से उठती सुनहरी लौ में जगमगाते श्रीधर को देखती है।"(पृ. 189, चाक)

यहां 'वंश की निशानी' अर्थात चंदन और दीपक की लौ में श्रीधर ज्ञान का प्रतीक है। सारंग के अवचेतन में ज्ञान के प्रकाश में वंश को देखने की कामना है, जो उसके पूरे व्यक्तित्व को बदलकर रख देती है। यद्यपि लोक–विधानों से भय खाती है सारंग, लेकिन ज्ञान की लौ को बुझाने में खुद को असमर्थ पाती है। इसीलिए श्रीधर से जुड़ती है और चाहती है कि उसके गांव को, उसके बच्चों को ज्ञान मिले। सारंग जानती है कि इसी ज्ञान की लौ के प्रकाश में उसका बेटा चन्दन साहसी और निर्भीक बनकर गांव में कायरता और स्वार्थपरता के कांटे बीन सकेगा। लेकिन सारंग की यह मंशा उपन्यास के भीतर ही समझी जाती है न ही बाहर। पति रंजीत द्वारा सारंग का बार–बार अपमान किया जाता है इसी बात को लेकर कि यह श्रीधर से क्यों जुड़ी है? इस तरफ राजकिशोर (आलोचक) ने अपने लेख में कुछ प्रकाश डालते हुए लिखा है–"श्रीधर का प्रवेश उस वक्त होता है जब रंजीत अपने प्रेमी या पति होने की पात्रता खो चुका है और गांव की अन्यायवादी शक्तियों के साथ समझौता कर चुका है। हताशा के ऐसे महौल में श्रीधर आशा की एक किरण के रूप में प्रकट होता है।

क्या इसीलिए उसके साथ सारंग के मन के तार सहज हो जुड़ जाते हैं?'चाक'की यह स्थापना हर तरह से विचारणीय है कि क्या प्रेम के साथ जो एक संवेग है कुछ भावना–मूल्य भी नहीं जुड़े होने चाहिए?"[6]

इन सवालों को उठाते हुए राजकिशोर की दृष्टि में "श्रीधर रंजीत का पॉजिटिव रोल है।"[7] यह बात ठीक भी है क्यों कि सारंग चाहती थी कि रंजीत सकारात्मक रूप से कार्य करके गांव के विकास में सहायक हो जबकि ऐसा नहीं होता। वह प्रधान फत्तेसिंह के साथ मिल जाता है ताकि अपने प्रधान बनने के सपने

को पूरा होते देख सके । इस हेतु मास्टर श्रीधर से भी मांग की जाती है कि वह भ्रष्टाचार के एक ऐसे कागज पर दस्तखत करे जिसके माध्यम से प्रधान हजारो रूपयों का गबन कर सके। श्रीधर के मना कर देने पर रंजीत एवं अन्य साथियों द्वारा उस पर घातक शरीरिक हमला होता है और इसके परिणामस्वरूप वह तथा सारंग एक दूसरे के और नजदीक आते हैं और यहीं वह घटना घटित होती है जिसे सभी सभ्य समाजों में व्यभिचार कहा गया।' यह घटना और रेशम के प्रसंग को आधार बनानक 'चाक' को नैतिकता/अनैतिकता के कठघरे में खड़ा किया गया। इस परिप्रेक्ष्य में प्रो0 मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि "उपन्यास अपने पाठकों को जीवन मूल्यों के बीच चुनाव का संकेत देता है, उनकी सहानुभूतियों का विस्तार करता है और जीवन की कला भी सिखाता है। इस तरह उसका एक नैतिक आयाम है। यह नैतिक आयाम आधुनिक युग का है, इसलिए रूढ़िवादी नैतिकता के समर्थक उसका विरोध करते हैं। आरंभ से ही नैतिक आधार पर उपन्यासों का विरोध होता रहा है। उपन्यास की नैतिकता पर बहस हिन्दी में ही नहीं हुई।17 वीं और 18वीं सदीके अंग्रेजी और फ्रांसीसी उपन्यासों में भी ऐसी बहसें मिलती हैं।उन बहसो को देखने से मालूम होता है कि जो उपन्यास जितना अधिक यथार्थवादी होता था, उसकों उतना ही अधिक अनैतिक कहकर उसकी निंदा की जाती थी।"[7]

सारंग और श्रीधर के मिलन के इस प्रसंग को अनामिका (लेखिका) की टिप्पणी अधिक स्पष्ट रूप से खोलती है। टिप्पणी यहां प्रस्तुत है– "सारंग की त्रासदी उन सारी स्त्रियों की त्रासदी है जो अपने जरूरत से ज्यादा ही पारदर्शी पर उग्र पतियों को स्नेह तो करती हैं पर लाख चाहकर भी इन्हें अपने सपनों के पूर्ण पुरुष का दर्जा नहीं दे पातीं।..... मन को समझा–बुझाकर कर्तव्य भाव से सम्बन्ध निभा देना एक बात है और प्रेम में पड़ना कोई और ही बात। विभोर होने की स्थिति सबके साथ बन ही नहीं पाती, वह वहीं बनती है जहां हृदय –बुद्धि सामंजस्य हो यानी तत्व की एकता।....यह आधारभूत तथ्य चाक कुछ ऐसे स्थापित करता है कि क्षण विशेष में किसी ममत्व भरे आवेश के अन्तर्गत विवाहित नायिका का अपने बेटे के आदर्शवादी

शिक्षक के साथ स्पष्ट दैहिक संसर्ग भी अस्वाभाविक और असंगत नहीं लगता। प्रसंग ही कुछ ऐसा है निर्दोष श्रीधर मास्टर को सारंग का पति बेमतलब ही इतना पिटवाता है कि अपराध कातर सी हो जैसे वह उसके लहूलुहान शरीर से लिपट जाती है। कोई राधा–कृष्ण नहीं है वे। न ऐन्टा–ब्रोन्स्की, न ही लारेंस का जोड़ा, अपनी सामाजिक स्थितियों की पहचान उन्हें है। योजनाबद्ध ढंग से वे नहीं मिलते, मिल जाते हैं जैसे दो लहरें मिलती हैं और पहल करती है सारंग ही''[8]

सारंग द्वारा पहल करने के संबंध में निर्मला जैन ने लिखा है कि ''श्रीधर और सारंग का मिलना परिस्थितियों की सहज परिणति है और सारंग का पहल करना जैसे सैक्स वृतान्त में उसके बराबर का हिस्सेदार होने का सबूत है।''[9]

परिस्थितियों की सहज परिणति से यह मिलन एक साथ कई कोनों से स्त्री जीवन की कई पर्तों को खोलता है। जहां एक ओर हृदय और बुद्धि के सामंजस्य से उत्पन्न प्रेम विभोर भाव वात्सल्य तक पहुंचता है, श्रीधर इसे बेटे चंदन जैसा दिखता है– ''वे घायल, टूटे, बिखरे से.....ऐसे ही जैसे चंदन था नया जन्मा। छोटा सा अवश अबोध.....।''वहीं दूसरी ओर स्त्री विवाह नाम संस्था के घेरे में पति नामक खूँटे से बाँध दी गई अपनी देह को वापस लेकर अपनी मालिक खुद होना चाहती है। तभी तो सारंग कहती है।–''मेरा मन जिद्दी है श्रीधर। कहता है जिस मर्द के साथ तेरे पिता ने विदा कर दिया, उस मालिक से वापिस मांग ले अपनी देह। जीती जागती पांच इंद्रियों के संग तो जानवर बेचे जाते हैं। उन्ही का रस्सा पकड़ाया जाता है दूसरे के हाथ।'' (पृ. 322, चाक)

बाबजूद इन सहज परिणतियों के स्त्री मन स्वंय तय नहीं कर पाता कि उस मिलन का , श्रीधर से जुड़ने का स्पष्ट कारण क्या है? सारंग की मनः स्थिति में उठते सवाल देखिए– ".....मैं ही नहीं जान पा रही कि जो कुछ उनके साथ हुआ वह उसकी भरपाई थी या मेरी अपनी अधूरी इच्छा ? दबी घुटी लालसा या वर्जित फल को चखने जांचने की जिद ? मेरा ही फैसला था कहीं । आजाद होकर

सोंच रही थी अपने बारे में। मास्टर ने तो यह भी सोचा होगा कि सारंग ने बांध लिया है मुझे। चंदन के कारण श्रीधर को बांधना चाह रही हूं मैं ? या अकेली ही चलकर ताकत इकट्ठा कर रही हूं । देखना चाहती हूं कि कहां कहां से गुजर जाऊंगी ? मालुम नहीं श्रीधर के संग एक हो जाने का कौन सा कारण था ?

कालावती चाची..... तुम्हारा अक्स रह गया मेरे भीतर? तुम्हारे बोलों ने खींच लिया इस राह पर – हम जाटिनी तो जेब में बिछिया धरे रहते हैं, मन आया ताके पहर लिए। चाची तुमने कैलासीसिंह को जो संजीबनी बूटी चटा दी थी, वहीं मैं देना चाह रही थी श्रीधर को।" (पृ. 329, चाक)

अपनी देह का सत्त श्रीधर की देह में भरकर उनमें हौसले का तूफान उतार देना चाहती है सारंग। क्यों कि मास्टर की चिंता उसे चंदन और गांव के स्कूल से जोड़ती है। सारंग की स्वतंत्र सोच अपने सपने को मन से देह और कर्म तक जोड़ती है। किसी भी जतन से वह विद्यालय में मास्टर के हाथों ज्ञान का दीप जलाए रखना चाहती है और इस राह में देह उसके लिए साध्य नहीं साधन हो जाती है। उपन्यास का एक अंश यहां प्रस्तुत है– "रंजीत का बर्बर चेहरा.....श्रीधर पर हमला करता हुआ। आह न कराह.....श्रीधर का कुचले केंचुए की तरह तडपना! खौफनाक पंजों के बीच छटपटाता स्कूल मास्टर.....अंधी आंखों वाले समय की धार में बहता एक बालक–चन्दन। मासूम चेहरे से पपड़ी की तरह उतरता नटखटपन। लपलपाती लौ वाला औंधा पड़ा स्टोव। टेपरिकार्डर के बजते गीत में पड़ती दर्दनाक भँवर! चिथड़ों–चिथड़ों खंडों–खंडों में गिरता–ढहता स्कूल! कितने ही चित्र बने सारंग की नजर के सामने। उन तसवीरों के नंगे चेहरे. . . . . ।

सारंग में श्रीधर के पाँवों पर सिर धर दिया। जार–जार रोने लगी।"

(पृ. 322, चाक)

इस बार भी बेटे चन्दन और ढहते स्कूल का चित्र सारंग को श्रीधर के पाँवो पर झुका देता है। ठीक वैसे ही जैसे 'चट्टा–चौथ' पर गीत गाते बच्चों के गीत में

साहस और निडरता का स्वर (मास्टर से हुई पहली मुलाकात) और आशा की किरण ने, चन्दन की शिक्षा और साहस के सपने को पूरा होने की उम्मीद से सारंग को श्रीधर के पाँवों में झुका दिया था।

श्रीधर को भी उन्हीं मासूमों की चिंता है जिनकी सारंग को। श्रीधर भ्रष्ट व्यवस्था में शामिल नहीं होता। उसने प्रधान को भी समझाया था– "प्रधान जी, अफसर लोग! अरे, उन्हें तो आप ऐसे ही समझ लें जैसे पुलिस बैंड, जिसे हँसी–खुशी दुख गम में बजकर अपनी उम्र पूरी करनी होती है। हमारे बच्चे उनके आंकड़े बनकर रजिस्टरों में बन्द हो जाएं? सरकार को बच्चों की सही–सही तालीम से कोई सरोकार नहीं। स्कूल कागजों पर खड़े हैं और आंकड़ों पर खड़ा है शिक्षा विमाग। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम और आप भी आपस में मातहत वाला रिश्ता कायम कर लें। इन मासूमों का क्या होगा?" (पृ. 177, चाक) श्रीधर को गाँवों में रोकते हैं ये फूलों से बच्चे, जिनका जीवन भविष्य लापरवाह अध्यापकों और भ्रष्ट अफसरों के हाथों में है।" (पृ. 344, चाक) राजकिशोर ने लिखा है–"श्रीधर और सारंग का मिलन दो रचनात्मक वेदनाओं का मिलन है और इस मिलन से अद्‌भुत चट्‌टानी शक्ति का उदय होता है।"[10]

इसी चट्‌टानी शक्ति के बल पर मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास में स्त्री–व्यक्तित्व को उभारा है। मैत्रेयी की चिंता में स्त्री को समानता से पहले मनुष्यता का अधिकार मिलना चाहिए। जिसमें सबसे पहले आता है– स्त्री के स्वतंत्र निर्णय का अधिकार। इसी अधिकार से अन्य अधिकारों की राहें खुलती हैं जिसके लिए मैत्रेयी की स्त्री संघर्षरत है। भले डरते–डरते ही सही, लेकिन सारंग नैनी अपने व्यक्तित्व में निर्णय का अधिकार सुरक्षित रखती है। यही निर्णय का अधिकार अंततः पूरे गाँव–समाज की स्त्रियों को जोड़कर 'स्त्री की चट्‌टानी शक्ति बन जाता है। जब लौंगसिरी बीबी, से लेकर प्रधानिन, बैकुंठी एवं अन्य लड़कियाँ, बहुएँ, मनोहरा की बहू सब की सब सारंग के प्रधानी के जुलूस में शामिल होती हैं। 'अनामिका' के शब्दों में–"सहज, संकोची, अर्द्ध शिक्षित, घरेलू पर अगाधमना सारंग जो गुरुकुल में पढ़ी है,

चौके के बाहर का संसार ठीक से पहचानती भी नहीं, छोटे–बड़े हर सामाजिक अन्याय के प्रतिकार के लिए जो पति का मुँह जोहती है, जबरदस्ती शहर भेज दिए गए बेटे के लिए जार–जार होती है, तरह–तरह की द्वन्द्व दुविधा में पड़ती है और हाँ–न करते करते गाँव की राजनीति से ऐसे जुड़ती है कि लोग उसे चुनाव में खड़ा करते हैं और लोकहित से सचमुच एकाकार होने के दम से वह चुनाव जीत जाती है।"[11] सारंग चुनाव जीत जाती है जबकि यही पति–परायणा पत्नी सारंग पहले यही चाहती थी कि उसका पति रंजीत चुनाव लड़े– "तुम खुद खड़े होते। जीतते चाहे हारते, पर तब तुम अपने बूते के नेता होते। कम से कम विरोधी बनकर हर अन्याय पर लड़ तो सकते। मैंने तुमसे बड़ी उम्मीदें बाँधी हैं रंजीत। रेशम और गुलकंदी ने जो अनर्थ किया, उसको नया अर्थ तुम्ही दे सकते थे केवल तुम्हीं . . . . .।" (पृ. 381, चाक) लेकिन रंजीत प्रधान के जाल में फँसकर योग्यता खो देता है, स्वार्थी बन जाता है। भँवर के शब्दों मे –"प्रधान ने छः महीने पहले से उन्हें अपने यहाँ बेगारी की तरह इसी लोभ में लगा रखा है कि वह उन्हें खड़ा करेगा और अपने गुट का समर्थन देगा। ऐसा करते –करते उनको पालतू बना लिया है। सारी हिम्मत, सारी योग्यता . . . सत्त की तरह खींच ली, उनके भीतर से। भइया को अपने ऊपर तक विश्वास नहीं रहा।" (पृ. 395, चाक)

"सारंग में योग्यता है, दृढ़ संकल्प की भावना है। वह सबसे ज्यादा सुयोग्य पात्र है प्रधान के लिए। . . . सारंग न्याय बरतते हुए बिना किसी के असर में आए प्रधानी निभा ले जाएगी।" (पृ. 396, चाक) यह विश्वास सारंग के ससुर, श्रीधर और भँवर को है। अतः श्रीधर का कथन है "सारंग चुनाव में खड़ी होना है तुम्हें। यह गाँव चाहता है, और चाहती हैं सारी औरतें। तुम्हारे लिए माथे पर ताज धरने की बात कोई नहीं सोच रहा। सिर्फ गाँव के लिए. . . . प्रधानी नहीं, सेवकाई करोगी तुम।" (पृ. 400, चाक)

सारंग पहले तो पति रंजीत के खिलाफ खड़े होने से डरती है। और इसे पति–धर्म नहीं मानव–धर्म मानती है ताकि घर में सुख–शांति बनी रहे। किन्तु बाद में

श्रीधर द्वारा दिया गया ज्ञान उसके लिए आत्मज्ञान बन जाता है। श्रीधर एक तरह से सारंग का आत्म पक्ष है । तब यह मानकर कि 'किसी शिकंजे से आजाद होना गुनाह नहीं।' सारंग अपनी योग्यता स्वीकार कर आत्मविश्वास के साथ चुनाव हेतु नामांकन कराने निकल पड़ती है। उसे लगता है ". . . मेरे संग रेशम और गुलकन्दी आजू–बाजू चलती हुई। कमर कसकर भागती चली आ रही है हरिप्यारी।" (पृ. 403, चाक)

सारंग का नामांकन होने पर प्रधान फत्तेसिंह अपनी जगह कुंवरपाल (चमार) का नामांकन करवाता है। क्योंकि वह खुद औरत से हारना नहीं चाहता। स्त्री से दलित को लड़वाता है। यहां स्वयं दलित किन्तु पुरुष कुंवरपाल स्त्री को शोषित श्रेणी में नहीं गिनता। बल्कि अपने भाषण में कहता है–"जो औरत अपने मर्द की सगी नहीं हुई, वह गाँव के लोगों के दुख दर्द क्या समझेगी?" (पृ. 425, चाक)

सारंग द्वारा पर्चा भरे जाने पर रंजीत गालियाँ देता हुआ उसे पीड़ा देने के उद्देश्य से बेटे चंदन को पुनः शहर भेजने पर आमादा हो जाता है। तब सारंग जो 'पूरे साल इस बच्चे के लिए लड़ती रही', अपनी सीमाएँ तोड़ देती है। अपने बेटे को रोकने के लिए पागल, विक्षिप्त की भांति दौड़कर खूँटी से बन्दूक उतार देती है और दोनाली चला देती है– धाँय–धाँय । रंजीत इसके बाद भी रूक नहीं जाता। वह प्रधान से रूपया लेकर सारंग को नाम वापस लेने के लिए कहता है लेकिन सारंग मना कर देती है। यह कहकर कि "अपने चलते कोई अन्याय न हो। जान की कीमत देकर, इतनी सी बात, छोटा सा संकल्प करके निभाने की इच्छा है, बस।" (पृ. 417, चाक) इसी बाबत सारंग जो सपना देखती है, उसमें पूरे गाँव की औरतें उसके साथ हैं, बेटियाँ, बहुएँ, सक्का, गड़रिया, कुम्हार, खटीकों की सारी औरतें, बाम्हन–बाम्हनों की सब स्त्रियां, जाटिनियां, प्रधानिन भी सब की सब मिलकर सारंग को वोट देती हैं। तब श्रीधर को लगता है कि "धरती की बेटियाँ लौह–जंजीरों को काटने निकली है।" (पृ. 430, चाक)

सारंग अपने पति से संघर्ष कर रही थी, साथ ही समाज से भी। समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था उसे –

'तिरिया चरित्र न जाने कोई,
खसम मार के सत्ती होई।'

वाली कहावत कहकर उसे कुलटा करार दे रही थी। श्रीधर मास्टर ने ठीक ही सोचा था कि पहले पुरुष को शिक्षा देनी होगी। सारंग द्वारा चुनाव लड़ने पर उसके पति रंजीत को लोग 'पेटीकोट गवरमेंट' कहकर चिढ़ाते हैं। कुंवरपाल द्वारा 'बूथ कैप्चरिंग' की योजना बनाई जाती है। यह घटना रंजीत को परिवर्तित कर देती है। वह कुंवरपाल और अन्य साथियों की खूब पिटाई करता है। जब वापस अपने घर की किवाड़ों पर सिर टिकाता है तो उसे लगता है कि वह चलती चाक पर बैठा है। 'चाक' जो गुंथी मिट्टी से नया पात्र गढ़ता है।

उपन्यास 'चाक' शिक्षा और संस्कारों के नए अर्थ खोलता है। न सिर्फ रूढ़ियों को तोड़ता बल्कि विकल्प प्रस्तुत करता है। जहाँ पुरुषों की स्वार्थ सत्ता का प्रतिपक्ष प्रस्तुत करती स्त्री अपनी शक्ति के साथ सामने आती है। समाज को सही दिशा मिलने लगती है, जब पुरुष भी सकारात्मक सोच के साथ ज्ञान को सार्थक बनाता है। 'चाक' में गढ़े गये पुरुष श्रीधर, भंवर और बाबा गजाधरसिंह ऐसी सकारात्मक छवि के साथ सामने आते हैं। स्त्री के साथ पुरुष चेतना का समाहार करवाकर यह उपन्यास समाज के सामने नये मूल्य प्रस्तुत करता है।

चाक में केवल सारंग ही नहीं, सभी स्त्री पात्र चेतना सम्पन्न दिखायी देते हैं। रेशम, कलावती चाची, लौंगसिरी बीबी, गुलकन्दी, हरिप्यारी नाइन, बड़ी बहू, प्रधानिन, बैकुंठी, केका सब की सब। कुछ अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार मौके पर ही चेतस दिखती हैं तो कुछ चुनाव के साथ सारंग की शक्ति में अपना हाथ आगे बढ़ाकर उसे मजबूत बनाती हैं। इस तरह स्त्री की चेतना 'सामूहिक शक्ति' बनकर सामने आती है।

'चाक' में मुख्य नायिका सारंग–नैनी के अतिरिक्त अन्य स्त्री पात्रों की सूची इस प्रकार है– रेशम, गुलकन्दी, कलावती चाची, लौंगसिरी बीबी, हुकुमकौर, हरिप्यारी, बड़ी बहू, चुनिया, बैकुंठी, राममूर्ति, केका, पाचन्ना, मनोहरा की बहू, सीमा, देवीचरण की बहू, संता, बाँझ औरत, जगदीश की बहू, सारंग की जिठानी। इन पात्रों के माध्यम से भी उपन्यास में चेतना की गूँज ध्वनित होती है। रेशम की स्वतंत्र जीने की इच्छा का जिक्र किया जा चुका है। हरिप्यारी नाइन की बेटी गुलकन्दी पति के विमुख होने पर बिसुनदेवा गायक (खटीक जाति) से गन्धर्व विवाह कर लेती है। गुलकन्दी और बिसुनदेवा का यह विवाह समाज के कई उलझावों, विडम्बनाओं को सामने लाता है। जैसे– गुलकन्दी की माँ जब गुलकंदी का रिश्ता लेकर जाती है तो उस गाँव में हड़कंप मच जाता है कि 'लुगाई आई है संबंध तय करने'। तब हरप्यारी उनकी खबर लेती है। "ला कड़ीखाए, मैं देखूं तू कैसा बाप है? जो मैं जा पहुंची जटवार । और बैठ गई जाकर उसके चबूतरा पर बिछी खाट पर।घूंघट पर्दा गया भाड़ में लाज लिहाज? धर दी उतारकर। तुझे भी नानी याद आ जाएगी भड़ुआ।" (पृ. 115, चाक) बात यहीं पर खत्म नहीं होती। दहेज की समस्या भी सामने आती है। वर पक्ष की ओर से बीस हजार नकद की माँग की जाती है। इस समस्या का विकल्प उपन्यास में गन्धर्व विवाह करवाकर प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु, इसकी परिणति जाति की ऊँच–नीच के कारण भस्म होने की स्थिति तक पहुंच जाती है। गुलकन्दी, माँ और बिसुनदेवा तीनों को चचेरा भाई हरप्रसाद होली के दिन घर में आग लगाकर दहन कर देता है। "ये दो लाशें गाँव पर भारी पड़ रही थीं। गांव के रीति–रिवाजों को ललकारने चली थीं। एक दहेज को अंगूठा दिखाती हुई, दूसरी अपनी इच्छा से जीने के लिए मंजिल की ओर बढ़ गई।"(पृ. 362, चाक) गुलकन्दी भी रेशम की तरह आजाद होकर जीने की इच्छा के कारण मौत के घाट उतार दी गई। गुलकंदी का प्रकरण दहेज की समस्या का विकल्प प्रस्तुत करता है लेकिन समाज की विडम्बना कि रेशम की तरह गुलकन्दी की इच्छा को भी रीति–रिवाजों के नाम पर जलाकर खाक में मिला दिया गया।

'चाक' में कई मिथक, मान्यताएँ स्त्री पात्रों के हाथों टूटी हैं। कलावती चाची और कैलासी सिंह का प्रसंग वह मिथक तोड़ता है, जहां स्त्री के छूने से पुरुष भ्रष्ट हो जाता है। गाँव में 'दूती लुगाई' के नाम से मशहूर कलावती चाची का पति उनकी गोद में रिसाल और पेट में सत्तो को छोड़कर भाग गया। चाची के शब्दों में– "भड़ुआ, डरपोक निकला, लाला के कर्ज के मारे भाग गया। अब देख लो कि पाई–पाई पटा दी न मैंने, हम्बौतों।" ऐसी जीवन्त पात्र कलावती चाची बच्चों को पाल पोसकर बड़ा कर देती हैं। और सारंग को चुनाव में वोट देकर उसकी शक्ति बन जाती है।

तेज स्वभाव की लौंगसिरी बीवी पीहर में रहती हैं क्योंकि उनका पति दूसरी औरत ले आया। गाँव की औरतों के चरित्र का हिसाब रखती लौंगसिरी बीवी अपनी अम्मा पर भी पहरा रखती। किन्तु बाद में श्रीधर से आत्मीयता पाकर, माँ बेटे के रस से सराबोर होते स्वभाव में एकदम बदल जाती हैं। पीहर में उम्र बिता देने वाली लौंगसिरी बीवी अपनी देह का ताप सहती पीड़ा से गुजर रही थीं, तभी माँ के प्रति भी क्रूर थीं। किन्तु अब उन मान्यताओं को तोड़ती सारंग से कहती हैं, "यदि पहले मैं ऐसा जानती तो कह देती कि उम्र है तेरी, उछाह है मन में तो बद्री चाचा से ब्याह कर ले अम्मा । तेरे लिए मोहल्ला, पड़ोस, जाति, बिरादरी, गाँव–पुरा, नाते रिश्तेदार कुछ नहीं सोचने वाले। जो सोचना है, तुझे ही सोचना है।"(पृ. 323, चाक) यह सोच है विधवा जीवन बिताती उस स्त्री की, जो अपने जीवन के बंधनों की कड़ियों को तोड़ देना ही ठीक समझती है। अपने बारे में खुद सोचने के लिए चेतस है। लौंगसिरी बीबी स्वयं ही उन नियमों को तोड़ने की हिमायती हो जाती हैं जिन्हें पहले वे स्त्रियों के लिए जरूरी समझती थीं।

दरअसल अकेली रहती औरत जीवन की कठोरताओं से टकरा–टकरा कर स्वभाव से कठोर बन जाती है। विधवा पचन्ना बीबी को प्रेम करने की इच्छा के कारण उनकी जवानी कील दी जाती है। बाप की मर्जी से बेटी की छातियों को आग में दहकाये चिमटे से पौहे–पसु की तरह दाग दिया जाता है। तब यह बालविधवा

अधेड़ उम्र तक मर्दों की तरह रौब रुतबे वाली हो जाती है। बड़ी बहू के शब्दों में , "लक्ष्मीनिवास (बेटे) को मैं आँचर का दूध पिलाती तो वे ऐसे देखतीं जैसे मुझे कच्ची खा जाएँगी। खूंखार शेरनी सी"(पृ. 68, चाक)

बड़ी बहू पाचन्ना बीबी के दर्द को समझती है किन्तु स्वयं भी बड़े घर की बहू के नियमों से बंधे होने की पीड़ा से त्रस्त हैं। जहां उसे अच्छे खाने, कपड़ों के बदौलत मुंह सीकर रहना पड़ता है। पति से सामना केवल रात के अंधेरे में होता । तब भी उससे सुख–दुख कहना मुनासिब नहीं । वरना "मालिक के लिए गांव में औरतों की कमी न शहर में बेड़नियो की। किन्तु सहन करने वाली यह बड़ी बहू भी हरिप्यारी की मौत पर चिढ़ उठती है ।

केवल बड़ी बहू ही परिवार और पति की मर्यादा हेतु बने नियमों में नहीं घुटती। मनोहरा की बहू जिरौली वाली तो अपना मानसिक सन्तुलन ही खो देती है। उसके छः माह के गर्भ को टुकड़े–टुकड़े करवा कर गिरा दिया जाता है क्योंकि उसके पति को यह शक होता है कि वह बच्चा उसका नहीं, चरनसिंह बौहरे का है। जबकि जिरौली वाला का पति स्वयं ही नपुंसक है किन्तु सजा स्त्री भोगती है अपने शरीर से, मन से। "साँवले रंग की कसी देह की औरत जब रात के समय अपनी छत पर चढ़कर बाल बिखराकर नंगी खड़ी हो जाती है। हाथ में धनकुटा लेकर दाएँ–बाएँ फिराती हुयी नाचती है। और एक फूहड़ गीत गाती है–

'उधारो दै दै भाएली, मोय एक रात भरतार"

तब पति के नामर्द होने की सजा उसे मिलती है। उसके मुँह को मिर्चों के धुएँ पर औंधा दिया जाता है। फिर भी शांत नहीं होती। किन्तु चरन सिंह बौहरे का स्पर्श पाकर शांत हो जाती है।

इस विडम्बनापूर्ण स्थिति पर सवाल खड़े करता है यह उपन्यास। सारंग सोचती है– "इस गाँव के किसी मर्द को मिर्चों के धुएँ पर नहीं औंधाया किसी

ने।''(पृ. 214, चाक)

इन स्थितियों की मूक अस्वीकृति जिरौली वाली की विक्षिप्त मनोदशा में मौजूद है तो इसकी मुखर वाणी श्रीधर के शब्दों में मौजूद है। जब वह अपनी डायरी में लिखता है–''यही प्रताड़ना देखकर तुम्हारे ही बीच से कोई मंझा उठेगी सारंग, जो अपनी मर्जी से अपना बालक पैदा करेगी। भले बालक होंसबिरे (जंगल) में जनमें। उसकी कोख का फैसला करने वाला कोई राजा होगा न मालिक, और न कोई देवता! नल की तरह जन्म लेने वाला प्यारा सा बच्चा सिर्फ अपनी माँ को पहचानेगा, किसी राजा पिरथम को नहीं। जिरौली वाली को दी गई यातना व्यर्थ नहीं जाएगी. . . तुम्हारे मन में विक्षोभ की एक चिनगारी छिटकी, यही क्या कम है? लपटें भी उठेंगी, जो छीन लेंगी अपने हक को, इन वीयवर्द्धक जड़ी–बूटी और शिलाजीत खाने वाले मर्दों से . . . . ।''(पृ. 214, चाक)

ऐसी ही एक स्त्री का जिक्र कैलासीसिंह के प्रकरण में भी आता है। जब स्त्री बाँझ नहीं है किन्तु फिर भी नामर्द पति कहता है– ''बंसबेल नहीं चलाएगी तो तुझे हम चाटेंगे धरकर? जिस पेड़ पर फल नहीं लगते, उसको काटकर आग में झोंक दिया जाता है।''(पृ. 99, चाक) यह स्त्री अपना प्रतिकार अपनी स्थिति के अनुरूप करती है। वह चुपचाप एक ऐसा पुरुष चुनती है जो उसके गर्भ में पौरुष की दो बूँद दे सके ताकि वह अपने बाँझ न होने का प्रमाण दे सके। यह विडम्बना रही कि चयनित पुरुष समर्थ न हो सका। किन्तु उस स्त्री ने चुपचाप सहन नहीं किया।

पति की दहशत में रहती स्त्रियों की कथा यहीं समाप्त नहीं होती। सारंग की जिठानी और सारंग से भी जुड़ती है। सारंग के ही शब्दों में, ''जिठानी और मुझमें फर्क नहीं रंजीत ! वे आती हैं तो चमकदार कपड़े और दमकते हुए गहने पहनती हैं पर उनके मन पर पति की दहशत का काला पर्दा. . . हमसे छिपा पाती हैं क्या?''(पृ. 56, चाक)

पति की यह दहशत औरतों की देह के लिए हमेशा ही कष्टप्रद रहती है किन्तु

उनके लिए विकल्प उन्हें नहीं मिलता। ऐसे ही विकल्प को तलाशती पत्नी कहती है– "जीजी हम क्या करें? हमारे जे तो कौपट्टी लगवाने दें न लूप। कहते हैं कि फिर तू छुट्टा गाय की तरह ठौर–ठौर मुँह डोलेगी। मैं कहाँ तक रखवाली करूँगा?

दूसरी बोली, अरी मेरा आदमी बड़ा कठिन है। कहता है– तेरे पेट में बालक न आ जाए, इस मारे क्या मैं अपना मजा खराब करूँ? फेंक साले ऊँकना–फूँकना।"(पृ. 372, चाक)

यहाँ पति सिफ अपनी इच्छा, अपना आनंद देखता है ओर पत्नी की देह की परवाह किए बिना उसकी देह की रखवाली करता है। किन्तु यहाँ भी बहू सीमा विकल्प देती है कि तुम अपने पति को बिना बताये मायके जाकर आपरेशन करवा लेना।

स्त्री की सिर्फ देह ही पति की गुलाम नहीं होती। भारतीय समाज में स्त्री की गुलामी देह के साथ–साथ मानसिक भी है। स्त्रियाँ मानसिक स्तर पर पुरुषानुकूलन करती हैं। उन्हीं के बनाए गए पुरुष–मानदण्डों के आधार पर सही–गलत तय करती हैं। सारंग–श्रीधर को लेकर जगदीश की अम्मा कहती है– "बहना ऐसा कौन सा आदमी होगा, जो अपनी औरत को पराये मर्द के संग . .. बताओ चार दिन से घर–बार टमागे डोल रही है मीराबाई सी। बाबा की देहरी को पातिक लगा दिया सारंग ने। अरी गंगा सबका मन मोहती है, पोखर किसे भाएगी भला?"(पृ. 328, चाक)

गुलकन्दी और रेशम को भी नहीं बख्शा गया था। लेकिन पुरुषानुकूलन करती ये स्त्रियाँ जानबूझ कर अपनी इच्छा से ऐसा नहीं करतीं, बल्कि पुरुषों की दहशत में ऐसा करती है। रेशम के अपनी सास हुकुम कौर के सम्बन्ध में कहे गये शब्द यहाँ उद्धृत हैं– "डकुरिया बिचारी की क्या खता? वह कौन सी अपने मन से ऐसा अजस करती है। एक दिना छाती से चिपकाकर हुकरी देकर रोने लगी ओर सुबक–सुबक बोली– रेसमियाँ मेरा बस चले तो मैं तुझे पलकों में छिपा लूँ, पर मर्दों को क्या जबाब दूंगी री S S S . . . ।"(पृ. 21, चाक)

सभी स्त्रियाँ एक–सी नहीं होतीं, कुछ अनुकूलन करती हैं, कुछ सहन करतीं, तो कुछ विद्रोह करती हैं। श्रीधर मास्टर के पुराने गाँव की स्त्री केका ससुराल से भाग आती है। उसका पति घर पर नहीं रहता। ससुर दारू पीकर बेहोश पड़ा रहता है। तब अन्य यार–दोस्तों को वह बर्दाश्त नहीं करती। किन्तु केका की यह बात कोई मानता। मायके लेने आता है कि वह मना करती है। खींचतान में उसके मारे पत्थर से पति मर जाता है। किन्तु केका का पिता एक गाय और बकरी के संग पुनः उसके ससुर को सौंप आता है। केका वापस अपने गांव के लड़के हरिपद के संग भाग आती है। यह है केका का विद्रोह और विरोध।

'चाक' उपन्यास समाज में स्त्रियों का असुरक्षित परिवेश सामने प्रस्तुत करता है। जहाँ हादसे की शिकार भी स्त्री होती है और उसकी सजा भी उसी को मिलती है। क्योंकि स्त्री की बात सीधे इज्जत से जुड़ जाती है घर की इज्जत, गाँव की इज्जत से।

किशोरी बालिका राममूर्ति के साथ छेड़छाड़ कोई करता है। और सजा राममूर्ति को मिलती है। उसे वापस उसके गाँव भेज दिया जाता है।

स्त्री के शोषण में उसकी उम्र की परवाह नहीं होती। चालीस वर्षीय थानसिंह अबोध 13 वर्षीय बैकुंठी को अपने लिए बिठा लेता है। वह थानसिंह के बड़े भाई के लिए खरीदी गई थी। इसी बैकुंठी की बहन, भंवर की माँ बैकुंठी की पीड़ा से परिचित हैं तभी तो वह राममूर्ति के समय चेतस हैं कि अब ऐसी नौबत नहीं आने दूंगी और उसे उसके गाँव वापस भेज देती हैं। यही बैकुंठी सारंग के चुनाव के जुलूस में शामिल होती है। उस वक्त कहती है –''रेसम के ठौर मैं होती तो मेरे प्रान पखेरू भी . . ।''

इस तरह सभी स्त्री पात्र अपनी–अपनी स्थितियों में चेतस होकर अंततः सारंग के चुनावी जुलूस में शामिल होकर उसका समर्थन करके स्त्री की सामूहिक शक्ति को राजनीतिक मंच पर विजयी बना देते हैं।

निष्कर्षतः 'चाक' केंद्र से परिधि तक स्त्री–विमर्श का उपन्यास है। जहाँ स्त्री की चिंता सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों में की गई है। स्त्री–चेतना अपने अधिकारों के प्रति सजग है और उनकी प्राप्ति के लिए संस्कारों के नए अर्थ खोलती, समस्याओं के नए विकल्प प्रस्तुत करती है।

संदर्भ–सूची :

1. मधुरेश, चाक : स्त्री विमर्श के बाहर और परे (समीक्षा), कसौटी–3, पृ0–158
2. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ0–301
3. निर्मला जैन, उत्तर शती के उपन्यास : महिला कथाकारों के संदर्भ में (लेख), कथाक्रम, अक्टूबर–दिसम्बर 2000, पृ0–40
4. चंद्रा सदायत, साहित्य में स्त्री दृष्टि (लेख), हंस, अक्टूबर–1994, पृ0–39
5. मैत्रेयी पुष्पा, मृत पति की जीवित कथा (लेख) राष्ट्रीय सहारा, 10 नवम्बर, 2001
6. राजकिशोर, चाक पर नैतिक सवाल (लेख) हंस–1997, पृ0–78
7. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ0–230
8. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ0–201
9. निर्मला जैन, उत्तर शती के उपन्यास : महिला कथाकारों के सन्दर्भ में, कथाक्रम, पृ0–37
10. राजकिशोर, चाक पर नैतिक सवाल, हंस, दिसम्बर–1997, पृ0–79
11. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ0–201

अध्याय-चतुर्थ

चाक : कथा संरचना और भाषा

किसी रचना की भाषा का उसकी संवेदना से गहरा संबंध होता है और इस संवेदना का लेखक की चेतना से। यह त्रिकोण ही किसी कृति में उसकी कथा–भाषा का निर्माण करता है। किसी रचना की भाषा कैसी होगी, यह उसकी संरचना और लेखक की अपनी जीवन दृष्टि पर बहुत कुछ निर्भर करता है। शीर्षस्थ आलोचक प्रो0 मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि "कथा कहने की कला का कथा कहने वाले या कथा कहने वाली की चेतना से गहरा संबंध होता है। कथा कहने के ढंग में सोचने का ढंग भी निहित होता है, उसके माध्यम से स्त्री अपने स्वत्व और आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा करती है। कथा कहने के दौरान जीवन जगत की व्याख्या भी होती है और उस व्याख्या में कथा कहने वाले की भी एक भूमिका होती है।"[1] इस परिप्रेक्ष्य में 'चाक' की लेखिका मैत्रेयी पुष्पा के आत्मकथ्य का एक अंग प्रस्तुत है जो यह स्पष्ट करता है कि कथा कहने के ढंग में सोचने का ढंग निहित है– "हमारी शाश्वत नैसर्गिक इच्छाओं के दमन की, मारण की घोषणा शास्त्र–पुराण भले ही करते रहें, हमारी रची इबारतों में ऐसा कहीं नहीं होगा।"[2] अपनी इसी जीवन–दृष्टि के अनुरूप मैत्रेयी ने अपनी रचनाओं में ऐसी बेवाक बोलती स्त्रियों को गढ़ा है जो भारतीय पुरुष प्रधान सामाजिक सत्ता के विरुद्ध अपना प्रतिरोध दर्ज कराती है। 'चाक' में ग्रामीण किसान स्त्री का संघर्ष सत्ता के राजनीतिक मंच तक जाता है जहां स्त्री शक्ति–सम्पन्न होकर अन्याय का प्रतिकार करने की राजनीतिक शक्ति अर्जित करती है। आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने टिप्पणी की है कि "मैत्रेयी पुष्पा के लिए 'उपन्यास' भी एक विधा या साहित्य रूप नहीं है, बल्कि एक अर्थ में भारतीय पुरुष प्रधान सामाजिक सत्ता के विरुद्ध स्त्री के प्रतिरोध और संघर्ष का मार्मिक उत्तेजक विमर्श है।"[3]

'चाक' ग्रामीण जीवन में स्त्री विमर्श का उपन्यास है। अतः उपन्यास में प्रयुक्त भाषा स्त्री केन्द्रित कथा के अनुरूप स्वतः पुरुष प्रधान समाज गढ़ती चलती है। कथा में प्रयुक्त भाषागत मुहावरे पुरुषसत्ताक–व्यवस्था के प्रतिनिधि बनकर सामने खड़े हैं। जहाँ स्त्री दोयम दर्जे की स्थिति पर भी नहीं, बल्कि पौहे–पशुओं (जानवरों) की श्रेणी

में रखी जाती है। अतः भाषा में प्रयुक्त मुहावरे/लोकोक्तियों में सांस्कृतिक रूढ़ियाँ भी बरकरार हैं। चूँकि, भाषा सांस्कृतिक तत्त्वों में शुमार है अतः सांस्कृतिक दबाव भाषा में मौजूद है। भारतीय पुरुष प्रधान समाज में स्त्री विरोधी मुहावरों का प्रयोग जैसा मिलता है, ठीक वैसा ही उपन्यास में मौजूद है। उदाहरणार्थ, सूची प्रस्तुत है–

1. 'पौहे – पशु और तिरिया को बस में रखने के लिए हर समय नाका रखना पड़ता है। (चाक, पृ0–12)
2. 'ब्याहता बैयर बिराने आदमी की साईं– परछाई भी छुए तो नरक की सामा. . .।' (चाक, पृ0–13)
3. 'बैयर घी का मटका होती है, आदमी की आँच पाए भसम उसी को होना पड़ता है।' (चाक, पृ0–19)
4. 'राजनीति और रंडी किसी की सगी नहीं होती।'(चाक, पृ0–30)
5. 'औरत तप खंडित करती है। बड़े–बड़े रिस–मुनियों को धराशायी कर दिया।' (चाक, पृ0–99)
6. 'नौकरी तो साली ब्याहता औरत की तरह जाएगी कहाँ?' (चाक, पृ0–173)
7. 'सीस जमाई का मैं काटूँ और बेटी को डारूँ मार।' (चाक, पृ0–294)
8. 'राजनीति की बातें औरतों के दिमाग से बाहर की चीज हैं।' (चाक, पृ0–300)
9. 'बैयर के नाक न हो तो गू खा ले।'
10. 'तिरिया चरित्र न जाने कोई/खसम मारकैं सत्ती होई।' (चाक, पृ0–401)
11. 'अपनी सी पर आ जाए औरत तो मर्द तो दस पटखनी।' (चाक, पृ0–407)
12. 'जो औरत अपने मर्द की सगी नहीं हुई, वह गांव के लोगों के दुख–दर्द को समझेगी?' (चाक, पृ0–425)
13. 'औरत जात अड़ने और हठ पकड़ने में माहिर होती है, ऊँच–नीच के बारे में कम सोचती है– त्रिया हठ।' (चाक, पृ0–41)

भारतीय पुरुष–प्रधान समाज में भाषा के यह मुहावरे ही स्त्री को इन्सानों की श्रेणी से पौहे–पसुओं की श्रेणी तक पहुंचाते हैं। किन्तु मैत्रेयी ने आधुनिक चेतना से किसान जीवन के उपन्यास को लिखा है। इसलिए रूढ़ियों को तोड़ा है और स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए संघर्ष को रचा है। किशोरी दास बाजपेयी का कथन है– "मनुष्य ने भाषा का निर्माण किया और भाषा ने मनुष्य का निर्माण किया।" मैत्रेयी ने भाषा के नए मुहावरे गढ़े, पुरानों को नए अर्थ दिए और स्त्रियों की अपनी बेबाक भाषा गढ़ी। रूढ़ियों को तोड़ती, तर्क प्रस्तुत करती, बेवाक बोलती चरित्रों के रूप में अपने स्त्री पात्रों को मैत्रेयी ने गढ़ा है। बनी बनायी सुशील तर्ज पर सभ्य शिष्ट भाषा का मुहावरा उनकी स्त्रियाँ नहीं बोलतीं। स्त्री यहां शक्ति सम्पन्न होकर दृढ़ स्वर में स्वतंत्र जीने की कामना करती है। जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है– "स्त्री भाषा के निर्माण की लड़ाई मात्र भाषाशास्त्रीय लड़ाई नहीं है। अपितु राजनीतिक लड़ाई भी है। . . . स्त्री जब तक शक्तिहीन रहती है, तब तक दृढ़ता के साथ बोलने का कोई अर्थ नहीं है। स्त्री शक्ति सम्पन्न बनेगी तो उसकी भाषा की समृद्धि की संभावनाएँ पैदा होंगीं स्त्री के शक्ति संपन्न होने के लिए जरूरी है कि स्त्री के लिए प्रस्तावित निषेधों को उठाना, उसे जीने, सीखने, आत्मनिर्भर बनाने एवं व्यक्ति की पहचान अर्जित करने के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि करना।"[4]

मैत्रेयी ने स्त्री के हितों के लिए संघर्ष को स्त्री की अपनी भाषा में परिणति तक पहुँचाया। स्त्री दृढ़ता के साथ भाषा के उन मुहावरों, रूढ़ियों को तोड़ती है जो उसके पावों की बेड़ी बन रहे होते हैं। मैत्रेयी ने भाषा का प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ सूची प्रस्तुत है–

1. पुरिख जाति बस अपनी सगी होती है।(पृ0–85)
2. दूरंदेसी बात है पुरिख नारी से हीन। सत्रह बिस्वे इस्तरी पुरिध है बिस्वे तीन।(पृ0–100)
3. 'औरत होकर बलवान होने का सपना देख रही हूँ।(पृ0–100)
4. 'लुगाई की जात भी बात पीना सीख गई।'(पृ0–116)

5. 'कोई औरत पति और सन्तान के खिलाफ नहीं सुनना चाहती। परिवार के कायदे के लिए खुद को कुरवान कर सकती है।' श्रीधर की इस बात को बहम बताती सारंग कहती है– 'मैं तुम्हारी बात को बदल डालूंगी।'(पृ0–290)

स्त्री के जीवन–संसार में उसकी चेतना उसके गृहस्थ और घर परिवार से जुड़ी रहती है। उसकी भाषा में भी उसका यह संसार शामिल रहता है। 'औरत के लिए घर अपने बालक सा है।'(पृ0–316) स्त्री की भाषा उसके गृहस्थी से, चौके से निकल–निकल कर आती है। उपन्यास 'चाक' में से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं–

1. मुँह से निकली बात गांव में ऐसे फिर गई जैसे दही की मटकियां में मथनी।'(पृ0–274)
2. गुरुकुल में बहनजियों की पकड़ 'पतीली पर संसी की पकड़ से ज्यादा', कई गुनी ज्यादा सख्त होती है।
3. 'सूप बोले तो बोले चलनी भी बोले जिसमें बहत्तर छेद।'(पृ0–187)
4. 'सूप की तरह सफेद दाढ़ी और गाय के सींग जैसी सफेद मूँछें।'(पृ0–207)
5. अब वे अपनी सत्तो को किस सूप तले ढकें।'(पृ0–175)
6. खील मखाने सी खिलना।
7. सड़े साग सा बाप। (पृ0–43)

स्त्री संसार की यह भाषा लेखिका के स्त्री–जन्य अनुभवों और स्त्री–पात्रों के अनुरूप महत्त्वपूर्ण है। ग्रामीण किसान स्त्री के जीवन संसार में महत्वपूर्ण है उसका चौका और घर। यही उसकी भाषा में भी मौजूद है। परिवेश का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। ग्रामीण परिवेश में स्त्री–जीवन के अनुभूत सत्यों से गुजरते हुए मैत्रेयी ने 'चाक' में भाषा के जिस मुहावरों को गढ़ा है, उसमें ग्रामीण जीवन साकार हो उठा है। उपन्यास में पशु–पक्षी, प्रकृति, किसान–जीवन के उपादान मशीन, बैल इत्यादि की उपस्थिति पूरे गांव को जीवंत स्वरूप में प्रस्तुत करती है। उद्धरण :–

पशु–पक्षियों की उपस्थिति :

1. 'कागा चिरइया और नीलकंठ जैसे पंछी भी अपनी बोली में उनका यशगान पाएँगे।' (चाक, पृ0–37)
2. 'हाथी की तरह चिघाड़ने वाले मुँह से जिबह होते बकरे की सी दर्द भरी पुकार को सुन रही हूँ मैं? (चाक, पृ0–57)
3. चकवी सी थिर निगाह, (चाक, पृ0–51)
4. गाँव के आदमी केचुएँ से बिलबिला रहे। (चाक, पृ0–262)
5. मोरनी का केंकियाना
6. करियल नाग।

ग्रामीण परिवेश :

1. 'नजरें बालू भरे पाट की तरह वीरान हो गईं।' (चाक, पृ0–59) (मैत्रेयी की चेतना में बेतवा नदी के किनारे का पाट मौजूद रहता है।)
2. 'जैसे ट्यूबवेल के पाइपों में से दो झरने साथ–साथ उछलकर बह निकले हैं। चंदन और प्रथम।' (चाक, पृ0–59)
3. बातचीत में किसान पत्नी सारंग किसान जीवन भाषा बोलती है– "रंजीत, ज्यादा बोझ भरी गाड़ी कभी–कभी उलार होकर पलट जाती है। कसूर क्या बैलों का है? मेरे कंधों पर भी इज्जत की गाड़ी का जुआ धरा था, इसका मुझे एहसास भी था, लेकिन बोझ. . . ।" (चाक, पृ0–141) यहां किसान स्त्री के जीवन और कर्म के बीच से भाषा गढ़ी गई है।
4. "ओसारे में चारा काटने वाली मशीन गड़ी है। कुटी का छोटा सा ढेर पड़ा है मशीन के पास कोने में। बाहर दो बैल खूंटों से बंधे जुगाली कर रहे हैं।" (चाक, पृ0–184)

केवल वातावरण ही ग्रामीण–जीवंतता में चित्रित नहीं होता, बल्कि मैत्रेयी शारीरिक उपमाओं के लिए भी ग्रामीण उपमान खोजती है। उदाहरणार्थ–

1. 'बिसुनदेवा के दांतों को देख गुलकंदी को मक्का के कच्चे दुद्धल दानों की याद आती है।' (चाक, पृ0–247)
2. 'गुलकंदी का चेहरा सिंदुरिया आम सरीखा।'
3. 'खील मखानों की तरह खिलती गुलकंदी।'
4. 'बैयर की सरसों सी फूली देह और गुलहड़ के फूल सी लाल आंखें।'(पृ0–99)

'चाक' में ग्रामीण अंचल की भाषा के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जो पात्रों की भाषा में स्वाभाविक रूप से आये हैं– उदाहरणार्थ– कनास, जरेंटा, पनही, लेड़िया, पानी औंझा, तोसा, फरियाकार, हम्बौतौ, हे जमंती, इत्यादि। विठौरा, सोनबार, बेसींग विजार (साड़)।

ग्रामीणों के स्वभाव से परिचय भी उपन्यास में मिलता है। "गांव के लोगों को बात में से बात निकालना आता है। तिल का ताड़ भी बनाना आता है और पहाड़ की राई भी कर सकते हैं।" (चाक, पृ0–126) "गांव गुलाम बनकर रह गया। गुलाम– पैसे का, उनके रहन–सहन का, रीति–रिवाजों का और खासकर बैयरवानियों के लिए तंगदिली का।" (चाक, पृ0–74) "दादू से नल और दुम्हैती के प्रेम विवाह को झूम–झूम कर सुनने वाले, मोतिनी द्वारा नल को मक्खी बनाकर अपने पिता की बेरी के छोटे से फैसले को खारिज करके क्या जताना चाहेंगे?" (चाक, पृ0–353)

उपन्यास में जैसा समाज व्यक्त है उसी के अनुरूप पात्रों ने अपने–अपने वर्ग के अनुरूप भाषा बोली है। लैंगासिरी बीबी अनुभव से बोलती हैं–"साँची बात है, सारंग, पापी पइसा पा जाए तो शंख–झालर ही बजवाता है कि कांई उसके पापों को भूलकर धरमातमा मान ले उसे।" (चाक, पृ0–297)

सामाजिक परिवर्तन पात्रों की स्थिति ही नहीं बदलता उनकी भाषा भी परिवर्तित होती है। गांव में हर प्रसाद नाई बंबई से चंपी मालिश करके काफी धन कमा लाया है। वह हजामत का काम बाप को वहीं करने देता। माँ बुलावे देना छोड़ चुकी है। गुलकंदी के प्रेम करने पर हरप्यारी के ये शब्द हैं–"यह रंडी उस खटीक के मूत पर जान दे रही है। बाम्हन बनता है भड़ुआ! जैसे हम जानते नहीं। घर से निकले पीछे सब नीची जात वाले अपनी जात घर ही छोड़ आते हैं। खटीक है खटीक। बाम्हन होता तो थूकता न तेरे ऊपर।" हरप्यारी अपनी जाति की स्थिति को बाम्हनों से निम्न स्वीकारती है, बावजूद इसके खटीक के नीची जाति का होने पर ऐतराज करती है।

ऐसे ही हरप्रसाद (नाई, जो अब यह कार्य छोड़ चुका है) की भाषा उद्धृत है–"अब हम वे नहीं रहे कि जिसके बाप को घुड़चढ़ी के बखत बड़ी कौम ने घोड़ी के ऊपर से खींच लिया था– नाऊ होकर हमारे सामने घोड़े पर चढ़कर जाएगा? बागा पकड़कर धूल में रगड़ दिया था। अब तो हम दिखा देंगे कि ननुआँ के बेटा का जल्वा देखो। पहले बात भूल जाओं कि हमने खाया तो तुम्हारे पाँव पूजकर, खिलाया तो पाँप पूजकर।" (चाक, पृ0–355)

बाबा गजाधर सिंह (सारंग) के ससुर जाट समाज से परिचित करवाते हैं– "असल में हम भी क्या करें? रण में तेज–तलवारें चलाना बंद हो गया। अब हमारी आन–बान–शान सब लुगाइयों के कूल्हे पर चढ़कर बोलती है या थाने–कचेहरियों को अंगूठा दिखाकर।" (चाक, पृ0–78)

उपन्यास 'चाक' में गांव के जीवंत चित्रण में तीज त्यौहार, लोकगीत, तथा लोककथाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। चट्टा चौथ, करवा चौथ, दिवाली, होली, अक्षय तृतीया, संक्रांति त्यौहार मनाते ग्रामीण जीवन का 'परिदृश्य ही जीवंत नहीं हो उठता है, बल्कि इस उपन्यास में मैत्रेयी ने त्यौहार, संस्कारों को नये अर्थ भी दिए हैं। 'चट्टा–चौथ' में बच्चे फूहड़ बीर कथाओं के स्थान पर साहसी, शौर्ययुक्त गीत गाते

हैं। करवा–चौथ के पर्व पर करवा–वंश की निशानी और दीपक की तो ज्ञान की लौ बन जाती है। दीपावली पर सारंग स्कूल में दिया धरने जाती है। होली पर सभी लोग एक साथ मस्त होली खेलते हैं। कलावती चाची चुनाव के जुलूस में ललमुनिया नाचती है। उपन्यास 'चाक़' में क्षेत्र विशेष में गाए जाने वाले लोकगीतों और लोक कथाओं का समावेश बार–बार किया गया है जिनका उपन्यास की कथा से सीधा जुड़ाव है। लेखिका के ही शब्दों में– गीतकथाएँ, किस्से कहानियाँ नहीं हैं 'जिन्दगी और मौत के अनमिट दस्तावेज हैं।' उपन्यास मे जिन गीत कथाओं का वर्णन है वे हैं– चंदना की कथा (ii), मंझा नल–दुम्हैंती की कथा। ये गीत कथाएँ स्त्री शोषण के इतिहास को समेटे रहती हैं और उपन्यास की कथा से जुड़ती हैं। गीत कथाओं की निर्मिति में स्त्रियों की वाणी सृजित होती हैं, स्त्रियों के द्वारा ही, जो अमर हो जाती है। इस तरह स्त्रियों के आपस में दुख कहकर बांटने ओर नियमों को तोड़ने की सजा पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रहती है। इसी परंपरा को उपन्यास में सारंग की चेतना रोक देना चाहती है और श्रीधर की डायरी भी, जो कहती है कि मंझा की तरह ही कोई औरत हींसबिरे (जंगल) में बालक जन्मेगी।

आल्हा–गीत के साथ–साथ अन्य लोकगीत भी उपन्यास में मौजूद हैं– उत्सवगीत, प्रेमगीत, फसल गीत, फाग, राज्य मांगती स्त्रियां। मैत्रेयी ने लोकगीतों का रचनात्मक प्रयोग किया है। लोकगीतों के साथ–साथ पहेलियों का भी प्रयोग उपन्यास में हुआ है।

1. 'भींत में मींत, पछीत में पानी, कूद पड़ी फूलनदेई रानी।'
2. 'पीरी पोखर पीरे अंडा, बेग बता नहीं देतूं डंडा।' (चाक, पृ0–287–288)

उपन्यास 'चाक' की कथा किस्सागोई शैली में लोक कथाओं, लोकगीतों, के साथ जीवंत ग्रामीण परिदृश्य प्रस्तुत करती है। जहां गांव अपनी सहजता व विद्रूपताओं के साथ मौजूद है।

मैत्रेयी ने उपन्यास 'चाक' अपनी परिचित शैली में प्रस्तुत किया है जहां रोचक किस्सागोई उपन्यास को बेहद पठनीय बनाती है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में "निश्चय ही उन्होंने हमारी किताबी जिन्दगी और भाषा दोनों को नए मुहावरों का विस्तार दिया है। खुली हवा और धूल, धूप से भरा बुन्देलखण्ड और ब्रज उनकी बेहद पठनीय रचनाओं में साकार हो उठा है।"[5]

उपन्यास 'चाक' में फ्लैश बैक शैली का प्रयोग भी हुआ है– रेशम की घटना में। जब सारंग की स्मृतियों में रेशम की हत्या के चित्र बार–बार उतरते हैं।

'चाक' में 'घटनाओं का पूर्वाभास' बार–बार मिलता है जो पाठक में कौतूहल पैदा करता है। उपन्यास के आरंभ में रेशम की हत्या की सूचना यह जिज्ञासा पैदा करती है कि रेशम की हत्या किन कारणों से की गई होगी? इसी तरह गजाधर सिंह (सारंग के ससुर) सारंग के हित में कुछ बोलेंगे या नहीं? इस बात की जिज्ञासा/संकेत सारंग के शब्दों से होती है– 'देखूँ बाबा, तुम मेरी अनकही बात, अनबोली आवाज को अपने मुँह से बोलते हो कि नहीं।' (चाक, पृ0–58) और फिर कथा में अंत तक ससुर सारंग के ही पक्ष में बोलते मिलते हैं।

उपन्यास में एक और पूर्वाभास गुलकंदी के प्रकरण में मिलता है। कलावती चाची के शब्दों में– "एक दिना चिरइया की तरह फुर्र न हो जाए तो मेरा नाम कलावती नहीं।" (चाक, पृ0–114) ऐसे ही हरप्यारी अपनी जिठानी के बारे में कहती है–"बहू हमारी जिठानी पूरी फरियाफार है। जात का नाम नीची होने पर वह ओर उसका पूत हरप्रसाद जौहर करने को तैयार हो जाते हैं।" (चाक, पृ0–116) कथा विकास में बाद में गुलकंदी बिसुनदेवा के साथ चली जाती है और हरप्रसाद गुलकंदी हरप्यारी ओर बिसुनदेवा को आग में जलाकर मार देता है।

नए मास्टर श्रीधर के आने पर सारंग सोचती है कि "स्कूल की खस्ता हालत में यह नया मास्टर ही नई ईंटे–सीमेंट लगाकर इसको नया रूप दे । हे भगवान,

ऐसा ही करना।" (चाक, पृ0–123) और सचमुच मास्टर ही स्कूल और बच्चों की शिक्षा के साथ पूरे गांव की चिंता भी करता है। सारंग सोचती है– "जूझने को मैं अकेली, डराने को इतने लोग! भगवान आज का दिन ही मेरे घावों का मरहम बन जाए। इस मास्टर ने बच्चों को इशारा दिया था या मुझे?" (चाक, पृ0–132) और मास्टर के प्रस्ताव पर ही अंत में सारंग प्रधान का चुनाव लड़ती है।

इस तरह उपन्यास की भाषा आगे घटने और विस्तार लेने वाली घटनाओं के संकेत सूत्र देती चलती है। और कथा अपनी संरचना में एक धागे में पिरोयी मिलती है। स्त्री की चिंता उपन्यास के पहले पृष्ठ पर ही है। एक तरह से यह उपन्यास का 'आमुख' लगता है और उपन्यास के अंत में रंजीत वापस अपने घर अपने रास्ते लौट आता है और किवाड़ों से सिर टिकाकर उसे लगता है कि वह चलती 'चाक' पर बैठा है। पूरे उपन्यास में मैत्रेयी ने चेतना की मिट्टी से गूंथ–गूंथ कर समय के चाक पर चढ़ाकर अपने पात्रों को गढ़ा है। और यह चेतना की मिट्टी भाषा की सक्रियता से ही ठीक तरह सानी जा सकती है।

प्रश्नाकुल शैली उपन्यास में जगह–जगह आयी है, जहां समाज की विडम्बनाओं, विद्रूपताओं, मान्यताओं को प्रश्नचिन्हित किया गया है। मैत्रेयी ने केवल सवाल उठाकर यूं ही छोड़ नहीं दिया है, बल्कि जिसके लिए जितना संभव, सही विकल्प भी प्रस्तुत किए हैं।

मैत्रेयी की भाषा उनकी अन्य समकालीन लेखिकाओं से एकदम अलग गंवई अंदाज में सामने आती है। अनामिका के शब्दों में "मैत्रेयी के यहां देहाती औरतों का हास–परिहास, व्यंग्य–विनोद, छत्तीसगढ़ी लोकगीतों– लोक कथाओं और मुहावरों का जीवंत प्रयोग भाषा से ऐसी चटक होली खेलते हैं कि वह जीवन के रंग–रस से सराबोर दिखती है।

मृदुला गर्ग (कठगुलाब) की भाषा में पढ़ी लिखी संवेदनशील स्त्रियों की भाषा की धार है, क्रिस्टल की तरह की तराश और 'टॉक स्टोरी' की सहजता. . .

कृष्णा सोबती (दिलोदानिश) स्वतंत्रता के थोड़े दिन पहले ही दिल्ली के एक कायस्थ घराने के चित्र खींचती है और उनकी भाषा में नफीस हिन्दुस्तानी का सलीकेदार प्रयोग हैं– "तान–बंधान चल रही है। सुबह शाम बरकरार है। साथ ही हंडिया चूल्हा भी।" (चाक, पृ0–149)

"हमें मालूम है कि यहां से चले जाने के बाद भी दिल्ली की इन्हीं गलियों में घूमा करेंगे। अपने पोतों की आंखों से अपने मनपसंद खोमचों की ताक–झांक करते रहेंगे. . . शहरियों के शोर–गुल के गुलदस्तों को सूंघते रहेंगे। जामुन, शहतूत, खिरनी, चाट–पकौड़ी, इमरती, जलेबी . . .सर्दी की दुपहर में घंटाघर की ओर टहलते जाना, गर्मियों की शाम को चांदनी चौक की ओर सरकते जाना, बारिश में जामा मस्जिद पर इठलाते बादलों को देखते जाना– क्या–क्या नजारा इस शहर में पिरोया पड़ा है।"[6]

मैत्रेयी की भाषा के संबंध में राजेन्द्र यादव की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। "मैत्रेयी न वक्तव्य देती हैं न भाषण। वह पात्रों को उठाकर उनके जीवन और परिवेश को पूरी नाटकीयता में देखती हैं। संबंधों के बीहड़ों में धीरे–धीरे उतरना उन्हे बेहद पठनीय बनाता है। मुहावरेदार जीवंत और खुरदरी लगने वाली उनकी भाषा की गंवई ऊर्जा मैत्रेयी का ऐसा हथियार है, जो उन्हें अपने समकालीनों में सबसे अलग और विशिष्ट बनाता है।"[7]

मैत्रेयी की गँवई भाषा से अलग सामान्य खड़ी बोली, अंग्रेजी मिश्रित शब्दावली से युक्त भाषा उनके उपन्यास 'विजन' में मिलती है। 'विजन' के पात्र पढ़े लिखे हैं। अतः वहां गंवई भाषा का मुहावरा नहीं चलता। वहां तो अंग्रेजी के शब्द प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण, 'टेक एडवान्टेज योर वुमेनहुड' इत्यादि'। "विजन के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा अपनी ग्राम–यथार्थ की एकल छवि से मुक्त होकर वृहत्तर यथार्थ को रचनाकार के रूप में अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज कराती हैं।"[8]

मैत्रेयी कथा संरचना और सशक्त भाषा से रचना का जो स्वरूप गढ़ती हैं। वह किस्सागोई शैली में बेहद पठनीय बनकर पाठक तक संप्रेषित होती है। रचना की सफलता इसी में होती है कि वह पाठक तक अर्थ संप्रेषित करने में सफल हो।

संदर्भ–सूची :

1. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ0–250
2. मैत्रेयी पुष्पा, मैं और मेरा समय, 'अपने भीतर का समय' (लेख), पृ0–99
3. परमानन्द श्रीवास्तव, राष्ट्रीय सहारा, लेख– 'अंधेरे में अंधेरे के विरुद्ध', दिनांक–15 अप्रैल, 2002, पृ0–9
4. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ0–286
5. राजेन्द्र यादव, 'आदमी की निगाह में औरत', लेख– दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ0–234
6. अनामिका, 'स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ0–204–206
7. राजेन्द्र यादव, 'झूलानट' (मैत्रेयी पुष्पा) की भूमिका से उद्धृत।
8. वीरेन्द्र यादव, आलोचना (सहस्त्राब्दि अंक 7–8, अक्टूबर–दिसम्बर/ जनवरी–मार्च), लेख– 'नारी का उपन्यास बनाम उपन्यास की नारी', पृ0–27

अध्याय-पंचम

समकालीन हिन्दी स्त्री लेखन में स्त्री चेतना और मैत्रेयी पुष्पा का लेखन

"नारी जागरण की दृष्टि से तो साहित्य उसके स्वत्व और व्यथा का समर्थ व्याख्याकार ही रहा है।" (महादेवी : श्रृंखल की कड़ियाँ)

साहित्य के क्षेत्र में स्त्री लेखन द्वारा अपनी दशा को व्यक्त करती हुई पराधीनता की छटपटाहट के बीच से मुक्ति की राहें तलाशती हैं। स्वतंत्रता की आशंका लिए स्त्री आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी अस्मिता की तलाश करती है। दासता की श्रृंखला की कड़ियों को तोड़ती स्त्री संस्कारों के नए अर्थ खोलती है, अपने लिए नई राहें तलाशती हैं। वह "न घर का अलंकार मात्र बन कर जीवित रहना चाहती है, न देवता की मूर्ति बन कर प्राण प्रतिष्ठा चाहती है।" (महादेवी) स्त्री जब स्वयं को अपनी निगाह से देखती है तो भारतीय स्त्री का परिचय– 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,/ आँचल में है दूध और आंखों में पानी ।" इन शब्दों में नहीं देती। स्त्री परिभाषाओं को स्वयं बदलती है। उसके अपने परिचय में "नारी केवल मांसपिंड की संज्ञा नहीं है। आदिम काल से आज तक विकास पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरकर, मानवी ने जिस व्यक्तित्व चेतना और हृदय का विकास किया है, उसी का पर्याय नारी है।[1]

स्त्री को अपनी 'स्त्री–दृष्टि' से देखकर लेखन में उकेरने का प्रयास स्त्री लेखिकाओं ने किया। समकालीन हिन्दी स्त्री लेखिकाओं ने जिस स्त्री को गढ़ा है वह शहरी जीवन की स्त्री है, जो शिक्षित तो है किन्तु स्वतंत्र नहीं है। भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं वे स्त्रियां जो अशिक्षित ग्रामीण समाज में पराधीन होकर जीवन जीने को विवश है। भारतीय समाज की ऐसी पराधीन स्त्रियों के जीवन की वास्तविकताओं की चिंता, उनकी स्वतंत्रता हेतु सही रास्तों की तलाश का व्यापक दृष्टिकोण महादेवी के स्त्री संबंधी चिंतन में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' (1942) के निबंधों में मौजूद है। आलोचक मैनेजर पांडेय के शब्दों में "वे केवल संपन्न और शहरी मध्यवर्ग

की स्त्रियों की स्वाधीनता की चिंता नहीं करतीं। वे श्रमजीवी समुदाय की स्त्रियों की जागृति और स्वतंत्रता के बारे में भी सोचती हैं। उनहोंने लिखा है कि कृषक तथा अन्य श्रमजीवी स्त्रियों की जागृति और स्वतंत्रता के बिना भारतीय स्त्री की मुक्ति का प्रयत्न अधूरा होगा। कृषक और अन्य श्रमजीवी स्त्रियों द्वारा श्रम से अर्जित स्वावलंबन की भावना से प्रेरणा लेकर सम्पन्न और मध्यवर्ग की स्त्रियाँ भी अपनी मुक्ति की राह पर अधिक सहजता से आगे बढ़ सकती हैं।"[2]

समकालीन हिन्दी स्त्री लेखन में स्त्री संबंधी चिंतन और मुक्ति की राहों की तलाश का ठीक ऐसा ही विस्तृत फलक मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में मिलता है। आश्चर्यजनक बात है यह कि भारतीय स्त्री की जिन समस्याओं पर चिंता महादेवी के चिंतन में 1942 (श्रृंखला की कड़ियाँ) में मौजूद थी। वह 70 सालों बाद मैत्रेयी के लेखन में भी केन्द्र से परिधि तक मौजूद है। इन वर्षों में लागू की गई स्त्री अधिकार, स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और तथाकथित विकास सम्बंधी बड़ी–बड़ी योजनाएँ खोखली क्यों साबित हो गई? इसके भी वही कारण हैं जो महादेवी के चिंतन के केन्द्र में थे, जिन पर 'श्रृंखला की कड़िया' में उन्होंने विचार किया। "उसमें भारतीय स्त्री को गुलाम बनाने वाली आर्थिक सामाजिक और धार्मिक प्रक्रियाओं से निर्मित जिस जटिल व्यवस्था की कार्य पद्धति के विभिन्न रूपों का विश्लेषण है, वह आज भी सक्रिय है।"[3]

स्त्री शिक्षा के प्रचार–प्रसार से शहरों में स्त्रियाँ शिक्षित हुयीं, आर्थिक रूप से स्वतंत्र भी हुयीं किन्तु पुरुषों से मुक्ति पाने की लालसा में, पुरुषों से होड़ करती स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता के भार से स्वयं ही दबने लगीं।

स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व, जहां स्त्री पुरुषों का अनुकरण न करे; अपने निर्णय स्वयं ले सकें; ऐसी चेतना महादेवी के स्त्री–चिंतन में मिलती है तो मैत्रेयी के उपन्यासों में। महादेवी ने लिखा है–"स्वयं अपनी इच्छा से स्वीकृत युगदीर्घ बंधनों को काट देने के लिए हमें संसार भर की अनुमति लेने का न अवकाश है न आवश्यकता,

परंतु इतना ध्यान रखना चाहिए कि बेड़ियों के साथ उसी अस्त्र से बंदी यदि पैर भी काट डालेगा तो उसकी मुक्ति की आशा दुराशा मात्र रह जायेगी।"[4]

मैत्रेयी की कथाओं की स्त्रियां भी स्वयं निर्णय लेती हैं। जो सोचती हैं उसे जीवन–कर्म में उतार लेती हैं– "अपने मन से जो किया उसका फैसला करने वाला कोई दूसरा कौन होता है?"[5]

लेकिन मुक्ति की राह तलाशते हुए मैत्रेयी के स्त्री पात्र लक्ष्य से भटक नहीं जाते। उनकी वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना से जुड़ती है। वह केवल पूंजी के दुश्चक में फंसकर या देह स्वतंत्रता मात्र तक ही सीमित नहीं रह जाती। ('आंवा', 'छिन्नमस्ता') बल्कि वह स्त्री जाति की मुक्ति के साथ समाज की मुक्ति का लक्ष्य साथ लेकर चलती है। ('इदन्नमम', 'चाक' भारतीय समाज में स्त्रियों की जो दुर्दशा हे उस वास्तविकता का चित्रण मैत्रेयी की रचनाओं में है; तथा उन स्त्रियों की चेतना उनके लिए अलग–अलग मुक्ति राहें भी खोलती है। विधवा स्त्री की दुर्दशा, कुंआरी के लिए शिक्षा के स्थान पर विवाह एवं दहेज की चिंता तथा विवाहिता के लिए पति के समक्ष अपना व्यक्तित्व शून्य कर देना– यह भारतीय स्त्री का यथार्थ है। जो स्त्रियां पढ़ी लिखी हैं वे भी इन समस्याओं से अलग नहीं, किन्तु जो अनपढ़ हैं, गांवों में रहती हैं, उनके लिए तो स्वतंत्रता के प्रश्न से पहले जीवन का संकट प्राथमिक है। मैत्रेयी की रचनाओं में ग्रामीण समाज में संकटों से जूझती किसान और श्रमजीवी स्त्रियों की चिंता मौजूद है।

"मैत्रेयी ने जिस तरह हिन्दी कथा साहित्य को नगरों, महानगरों की बंद और दुहराव पीड़ित दुनिया से निकालकर गाँवों, खेतों में पहुंचा दिया है। वैसा पहले किसी लेखिका ने नहीं किया। खुली हवा और धूल से भरा बुंदेलखंड और ब्रज उनकी बेहद पठनीय रचनाओं में साकार हो उठा है। 'झूलानट', 'इदन्नमम', 'चाक', और 'अल्मा कबूतरी' की ठेठ गँवई नायिकाएँ शायद पहले कभी हिन्दी उपन्यासों में दिखायी नहीं दी। बीसवीं शताब्दी के अंत की नायिकाएँ शायद पहले कभी हिन्दी उपन्यासों में

दिखायी नहीं दीं। बीसवीं शताब्दी के अंत की नायिकाएँ प्रिया, वर्षा, नमिता और वाना पूंजीवादी समाज में संस्कारों और आर्थिक विषमताओं से संघर्ष के दौरान अपने व्यक्तित्व निर्मित करती हैं।मैत्रेयी की नायिकाएँ गांव के सामंती परिवेशमें अपने संपूर्ण समाज की प्रतिनिधि के रूप में आत्मनिर्णय तक पहुंचती है। प्रिया, वर्षा, नमिता, वाना इन शहरी नायिकाओं के पास तो लड़ने के लिए बहुत से हथियार हैं– शिक्षा, जागरूकता, संचार–माध्यम, सामाजिक आंदोलन और संस्कारों को तोड़ते हुए आधुनिकता के हमले, भौगोलिक गतिशीलता; मगर मैत्रेयी की ग्रामीण नायिकाओं के पास तो वहीं रहते हुए संघर्ष और संकल्प के सिवा कोई विकल्प ही नहीं है। वे ऐसी पिछड़ी सामंती दुनिया में अपनी शक्ति अर्जित कर रही हैं जहां किसी क्षण उनकी हत्या की जा सकती है।"[6]

राजेन्द्र यादव द्वारा उनकी पुस्तक 'आदमी की निगाह में औरत' में संकलित लेख 'दुर्ग द्वार पर दस्तकें' में दी गयी यह टिप्पणी मैत्रेयी को उनकी समकालीन लेखिकाओं से अलग खड़ा करती है।

मैत्रेयी ने आधुनिक चेतना से ग्रामीण परिदृश्य पर उपन्यास लिखे। उनमें भारतीय स्त्री की उन समस्याओं को शामिल किया जो स्त्री का केवल व्यक्तित्व ही नष्ट नहीं करती, उनके जीवन को ही संकट में डालती हैं।

भारतीय समाज में लड़की के पैदा होते ही माता–पिता उसकी शिक्षा के स्थान पर विवाह और दहेज की चिंता करते हैं। गांवों में तो यह स्थिति और भी बदतर है। वहां लड़की को पढ़ाने के क्या फायदा मिलेगा, बेटा पढ़ेगा तो जीवन सुधर जायेगा। जैसी सोच ही चलती है। जल्दी से जल्दी कम उम्र में ही लड़की का ब्याह कैसे भी वर के साथ करके अपने भार से मुक्ति पा लेने की जल्दी माता–पिता को रहती है। उसके बाद लड़की का मालिक वह पुरुष है जो उसका पति है। लड़की पढ़ी लिखी हो तब भी स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उसके समक्ष पति के चरणों में समर्पित होकर जीवन को पुरुष के अनुकूल ढाल लेने की विवशता ही महत्त्वपूर्ण है। महादेवी

ने इस स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है कि "विवाह से पुरुष को तो कुछ छोड़ना नहीं पड़ता और न ही उसकी परिस्थिति में कोई अंतर ही आता है, परंतु इसके विपरीत स्त्री के लिए विवाह माने एक परिचित संसार को छोड़कर नवीन संसार में जाना है। जहां उसका जीवन सर्वथा नवीन होगा। पुरुष के मित्र, उसकी दिनचर्या, उसके कर्तव्य सब पहले जैसे ही रहते हैं और वह अनुदार न होने पर भी शिक्षित पत्नी के परिचित मित्रों, अध्ययन तथा अन्य परिचित दैनिक कार्यों के अभाव को नहीं देख पाता। स्त्री के लिए पुरुष मित्र वर्ज्य है और उसे शिक्षित स्त्रियाँ भी कम ही मिलती हैं। अतः एक विचित्र अभाव का बोध होने लगता है। कभी–कभी पति के आने–जाने जैसी छोटी बातों में बाधा दे पर वह विरक्त हो उठती है।"[7] महादेवी ने दिशा बतायी कि "इन स्त्रियों के सहयोग की हमें बाहर भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी घर में, इसमें संदेह नहीं।"[8]

विवाहिता स्त्री की ठीक यही स्थिति और दिशा मैत्रेयी के उपन्यास 'चाक' में मौजूद है। गुरुकुल में पढ़ी, ग्यारहवीं पास, संस्कृत, बोलने और यज्ञ करने वाली सारंग ने गृहस्थ के चलते अपने आपको इतना बदल डाला कि अब वह सारंग नहीं, रंजीत की बहू बनकर रह गई। किन्तु चेतना की कील सारंग को राजनीतिक मंच तक ले आती है और सारंग का संघर्ष घर से बाहर तक विस्तार लेता है। योग्य, दृढ़, और साहसी सारंग प्रधान बनती है। जिसके लिए उसे रंजीत के कोप का शिकार होना पड़ता है। रंजीत उसे घर की चाहरदीवारी में ही रखना चाहता है। उसका प्रधान बनना उसे कुलटा हो जाना लगता है।

भारतीय पुरुष में यह साहस नहीं मिलता कि वह स्त्री के व्यक्तित्व को स्वीकार सके। वह मान–मर्यादा, परिवार और बच्चे की दुहाई देकर स्त्री के लिए बनाए गए सामाजिक विधानों को उसके गले का फंदा बनाना चाहता है। निषिद्ध क्षेत्र में घुसते ही उसे मार देता है। पति द्वारा स्त्री के व्यक्तित्व को स्वीकार न सकने की ऐसी ही स्थिति पढ़े लिखे शिक्षित शहरी समाज में भी मौजूद है। जिसका अंकन नासिरा शर्मा के उपन्यास 'शाल्मली' में मिलता है। पढ़ी लिखी पत्नी उच्च अधिकारी

पद पर नौकरी करती है। पति उससे निम्न स्तरीय पद पर हे। तब यह बात पति को स्वीकार नहीं होती। पारिवारिक जीवन में कलह होने पर पति उसे ही नौकरी छोड़ने को कहता है।

इन स्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि पुरुषों को शिक्षा दी जाये। बचपन से मिले संस्कारों और आस–पास के समाज को देखते–देखते ही पुरुष सीख जाता हे कि स्त्री की स्थिति पुरुषों से नीचे है। अतः "शिक्षा द्वारा निर्माण–कार्य शैशव में ही महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा दूर करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। भारत में शिक्षा का पात्र बालक ही नहीं, प्रौढ़ वर्ग भी है जिसके प्रबुद्ध होने पर ही समाज और देश की अनेक विषमताएँ दूर हो सकेंगी।[9]

ठीक यही बात मैत्रेयी के उपन्यास 'चाक' में श्रीधर मास्टर के मुख से कही गईं –"औरत से पहले आदमी को ज्ञान देना होगा। मास्टर श्रीधर शिक्षा का अर्थ देते हैं– मर्दों के कुसंस्कारों और अहं की अशिक्षा को मिटाना और निजी स्वार्थों से मुक्त होना।"[10] सारंग आरंभ से अंत तक अपने बेटे चंदन की शिक्षा के लिए ही चिंतित है इसीलिए वह मास्टर के चरणों में झुक जाती है। चाहती है कि उसका बेटा शिक्षित होकर साहसी बने ताकि गांव का विकास हो और स्वार्थी तत्व गांव से बाहर हो सकें।

भारतीय समाज में विधवा स्त्री की स्थिति चिंताजनक बात है। महादेवी ने अपने स्त्री संबंधी चिंतन में इस समस्या पर विचार किया है। "स्त्री पुरुष के वैभव की प्रदर्शिनी मात्र समझी जाती है और बालक के न रहने पर जैसे उसके खिलौने निर्दिष्ट स्थानों से उठाकर फेंक दिए जाते हैं, उसी प्रकार एक पुरुष के न होने पर स्त्री के जीवन का कोई उपयोग नहीं रह जाता, न ही समाज या गृह में उसको कहीं निश्चित स्थान ही मिल सकता है।

जब जला सकते थे तब इच्छा या अनिच्छा से उसे जीवित ही भस्म करके विनोदार्थ भेज देते थे। परंतु अब उसे मृत पति का ऐसा निर्जीव स्मारक बनकर जीना

पड़ता है जिसके सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक होना दूर रहा। कोई उसे मलिन करने की इच्छा भी नहीं रोकना चाहता।"[11]

"ऐसे दुर्भाग्य में यदि स्त्री मातृत्व के उत्तरदायित्व से युक्त होती है तो उसे अभिशापमय जीवन के साथ अपने दुधमुंहे बालकों को लेकर ऐसे अंधकार में मार्ग ढूंढना पड़ता है जिसमें प्रत्येक यात्री दूसरे को भ्रांति में डाल देना अपराध नहीं समझता।"[12]

"किसी स्त्री के विधवा होते ही उसकी रक्षा कौन करेगा। यदि उसे भरण–पोषण की चिंता नहीं है तो रक्षक के अभाव में दुराचार में प्रवृत करने वाले प्रलोभनों से घिरी रहती है और यदि है तो उसकी आवश्यकताएँ ही अन्य साधनों के अभाव में उसे बुरे मार्ग को स्वीकार करने के लिए विवश कर देती हैं।"[13]

विधवा स्त्री की स्थिति की इतनी गहराई से समझ महादेवी के चिंतन में मौजूद है जो भारतीय समाज की अमानवीयता दर्शाती है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी कथाओं में विधवा स्त्री पात्रों का चित्रण करके इस समस्या को प्रत्यक्ष सामने किया है। बऊ, प्रेम (इदन्नमम), मीरा की दादी (बेतवा बहती रही), रेशम, कलावती चाची, हरिप्यारी (चाक), बालकिशन की अम्मा (झूलानट), भुवन, भुवन की माँ (अगनपाखी)– इन विधवा स्त्रियों के द्वारा मैत्रेयी ने विधवा स्त्री के संघर्षों को प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया है। ये अपना भय त्यागकर समाज से संघर्ष करती हैं। अपनी देह और संपत्ति की रक्षा करती और अपने बालकों का पालन भी करती हैं। दबंग व्यक्तित्व लिए यह विधवा स्त्रियाँ अपने सांपत्तिक और नैसर्गिक अधिकारों के प्रति सजग होकर मैत्रेयी की कथाओं में मौजूद हैं।

राजी सेठ के उपन्यास 'तत्सम' की विधवा नायिका वसुधा का संघर्ष अपने जीवन की अतीत स्मृतियों से होता है। जिनमें वह अपने पति की स्मृतियों को

त्यागकर किसी अन्य को अपनाकर जीने की समस्या से जूझती है। उसका संघर्ष सामाजिक नहीं होता। मैत्रेयी की स्त्री चेतना गांवों में विस्तार लेती है किन्तु 'विजन' उपन्यास में शहर की पढ़ी लिखी स्त्रियों को भी चिंतन के केन्द्र में रखती है। नेहा पेशे से डाक्टर 'विजन' की नायिका है जिसका विवाह डाक्टर लड़के से होता है। ससुर भी डाक्टर है। किन्तु नेहा यहां आपरेशन थियेटर में न होकर रिसेप्शन तक ही रह जाती है। उसकी क्षमताओं, उसके व्यक्तित्व का कोई मोल नहीं होता। अंततः नेहा की चेतना उसे आत्म निर्णय तक लाती है। इस परिप्रेक्ष्य में महादेवी ने लिखा है कि "चिकित्सा के क्षेत्र में स्त्रियों का सहयोग वांछनीय है। यह पुरुष से अधिक स्त्री की खोज का विषय है।"[14] परन्तु योग्य चिकित्सक स्त्री की भी पति के घर में स्थिति गृहिणी जो पति को आराम दे सके, इससे अधिक कुछ नहीं। विवाह द्वारा स्त्री के नष्ट होते व्यक्तित्व के प्रति चिंता महादेवी ने की थी और उसके परिवर्तन की आवश्यका पर भी बल दिया था। "समस्त सामाजिक नियम मनुष्य की नैतिक उन्नति तथा उसके सर्वतोन्मुखी विकास के लिए अविष्कृत किए गए हैं। जब वे ही मनुष्य के विकास में बाधा डालने लगते हैं तब उनकी सार्थक उपयोगिता नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ– विवाह की संस्था पवित्र है, परनतु जब वह व्यक्तियों के नैतिक पतन का कारण बन जावे तब अवश्य ही उसमें किसी अनिवार्य संशोधन की आवश्यकता समझनी चाहिए।"[15]

विवाह संस्था पर प्रश्न मैत्रेयी की रचनाओं में बार–बार लगता है। 'इदन्नमम' की कुसुमा, 'चाक' में गुलकंदी और सारंग तथा 'विजन' में आभा दी तथा 'अगनपाखी' में भुवन की स्थितियाँ विवाह संस्था को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करती है। मैत्रेयी की स्त्रियां विवाह के घेरे से बंद होकर नहीं सोचती। उनकी चिंता के केन्द्र में समाज के विकास का लक्ष्य रहता है। 'इदन्नमम' की मंदा अविवाहित नायिका रहकर ही समाज सेवा करती है। 'विजन' में आभा दी विवाहित होकर भी अविवाहित जीवन व्यतीत करके सेवा–कार्य में जुटी रहती हैं।

मैत्रेयी की नायिकाएँ विवाह न होने के अवसाद से ग्रस्त नहीं रहतीं। वह या तो सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ कर गुलकंदी की तरह गंधर्व विवाह कर लेती हैं या फिर अविवाहित रहकर ही समाज–कार्य से जुड़ती है। उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1962) की नायिका 33 वर्षीय सुषमा भी विवाह संस्था पर सवाल उठाती है कि (सहेली से) "आप भी क्या यही समझती हैं कि विवाह होना चाहिए? मेरे पास तो सभी कुछ है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र हूं जो चाहूं कर सकने में समर्थ हूँ।" लेकिन विवाह न होने की स्थितियों से उसके भीतर एक कड़वाहट हे क्योंकि घर की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उसका विवाह नहीं हो सका। फिर 'अच्छी लड़की' बनी रहने के कारण भी अपने को हमेशा रोकती रही। नील के साथ संबंध बनाए लेकिन यह सामाजिक दबाव ही था जो वह कहती कि "नील अब तुम मुझसे न मिला करो।"

मैत्रेयी की नायिकाएँ अपनी देह के प्रति सजग हैं। वह देह की पवित्रता को मिथकों में बांधकर नहीं देखतीं। देह की पवित्रता, मन की पवित्रता से जोड़कर देखती हैं। जो मिथक स्त्री देह को अपवित्र मानते हैं उन मिथकों को ही वे तोड़ देती हैं जैसे कलावती चाची और पहलवान कैलासी सिंह का प्रसंग ('चाक')।" पुरुष औरत को छुए तो उसका उद्धार करता है और औरत पुरुष को छू दे, तो पाताल में डुबो दे, ऐसा क्यों?"[16]

सिर्फ यही नहीं 'इदन्नमम' में मंदा का बलात्कार कैलाश मास्टर कर देता है, किन्तु वह अपनी देह को अपवित्र नहीं मानती, उसे मन की पवित्रता से जोड़कर देखती है।[17] वह जीवन भर अपना जीवन घुट–घुटकर नहीं काटती। न ही यह घटना उसकी मानसिक ग्रन्थि बन जाती है। ममता कालिया का उपन्यास 'बेधर' (1971) की नायिका संजीवनी को उसका प्रेमी अक्षत न होने के कारण छोड़ देता है तो वह एक अपराध बोध से ग्रस्त रहती है, जबकि उसमें दोष उसका नहीं । विपिन

ने जबरदस्ती उसके साथ रेस्तरां के केबिन में खड़े–खड़े ही संबंध बनाया था किन्तु वह फिर भी अपराध–बोध से ग्रस्त रहती है। कृष्णा सोबती के उपन्यास 'सूरजमुखी अंधेरे के' (1972) की नायिका रत्ती का बचपन में स्कूल के हवा घर में बलात्कार हो जाता है तो वह बचपन में तो बच्चों के चिढ़ाने पर उन्हें पीटती है किन्तु युवावस्था के लम्बे दौर तक इन घटना की मानसिक ग्रन्थि से सामान्य होने के लिए जूझती रहती है। सोचती है "कहीं कोई ऐसा कोना इस कमरे में हो जिसे कोई न देख सके। एक रत्ती को यहाँ छिपा जाऊँ और दूसरी को गाड़ी में बिठा ले जाऊँ।"[18] प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया भी बचपन में भाई द्वारा किए गए बलात्कार से हमेशा अवसादग्रस्त है और तय करती है कि कभी औरत नहीं बनेगी। मैत्रेयी की स्त्रियाँ समकालीन लेखिकाओं की स्त्रियों से अलग खड़ी होती हैं। वे कर्म से जुड़ती हैं, अवसादग्रस्त नहीं रहती।

गँवई जमीन पर आधुनिक चेतना से संपन्न मेत्रेयी की नायिकाएँ पढ़ी–लिखी नहीं हैं या बहुत कम पढ़ी हैं, फिर भी उनके भीतर अपने प्रति तथा अपने आस–पास के समाज के प्रति स्पंदित होती मानवीय संवेदना उन्हें निषिद्ध क्षेत्रों में जाने देती है। मैत्रेयी की स्त्री चेतना केवल देह के सरोकारों तक सीमित नहीं रहती, वह सांपत्ति और राजनैतिक अधिकारों की ओर भी देखती है और अंततः चेतना का विस्तार पूरे समाज की मुक्ति के साथ जुड़ता है। स्त्री अकेले चलकर ही समाज की मुक्ति के लिए संघर्ष करती है। समाज उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है।

अलका सरावगी के उपन्यास 'शेष कादम्बरी' (2001) की नायिका रूबी दी 'परामर्श' नामक स्वयंसेवी संस्था चलाती हैं लेकिन उसी में पूरी तरह समर्पित नही हो पातीं। सबकुछ के बावजूद अर्थात् धन, सन्तान के होने पर भी अकेलापन उन्हें सदैव घेरे रहता है। सामाजिकता उनके जीवन का लक्ष्य नहीं बन पाती।

मैत्रेयी की समकालीन लेखिकाएँ आधुनिक समाज के बीच से प्रश्नों को उठाती हुयी भी उपन्यास लिख रही हैं। जैसे 'मृदुला गर्ग' के 'कठगुलाब' में किराए की कोख का प्रश्न है। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आंवा' में भी नमिता की कोख से संजय कनोई एक बच्चा चाहता है। स्त्री का अपने गर्भ पर अधिकार हो यह प्रश्न तो मैत्रेयी ने 'चाक' में रेशम के माध्यम से उठाया है किन्तु यहाँ मैत्रेयी के विमर्श की प्रकृति उस ग्रामीण समाज के बीच से उठती है जहाँ स्त्री के लिए अपनी जिंदगी ही जीना मुश्किल हो जाता है। वहां स्त्री को जीवन भर रोने–सुबकने का भी अवकाश नहीं। मैत्रेयी की स्त्री किसी एक ही घटना से बंधकर जीबन नहीं गुजार देती, वहां जीवन में रवानगी है जो जीना चाहती है। स्त्री अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को पाने के लिए संघर्ष करती है। कृष्णा सोबती की स्त्रियां स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ सामने आती हैं जबकि मैत्रेयी की स्त्रियां स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए संघर्ष करती हुई सामने आती है।

मैत्रेयी की स्त्री–चेतना भारतीय समाज की पूरी जीवंत संस्कृति के साथ सामने आती है। वहां तीज–त्यौहार, उत्सव, गृहस्थ से अलग–अलग होने की प्रवृत्ति नहीं है बल्कि त्यौहार के रंगों और बाजों की धुनों पर गुंजित होते गीत तथा संस्कारों में स्त्री चेतना नए अर्थ भरती है। 'चाक' में मंझा की कथा से सारंग को कोख पर अधिकार का संकेत मिलता है तो 'करवा चौथ' का करवा और दिया संस्कार का नया ही अर्थ सामने प्रस्तुत करता है।

मैत्रेयी की कथाओं में भारतीय समाज जीवंत हो उठता है। वहां स्त्री घर परिवार से जुड़ी रहकर बाहर के समाज के विकास की बात करती है। उसे अपने बालकों की चिंता है। वह अपने बच्चे को छोड़कर धन कमाने नहीं जाती। महादेवी ने भी लिखा है "ऐसी स्त्री अपवाद है जो अपने प्रिय बालकों को अरक्षित छोड़कर केवल आर्थिक स्वतंत्रता की कामना से संसार के कठोर वातावरण में द्रव्य उपार्जन करने जाना चाहें।

हमारे यहां आज भी श्रमजीवियों की स्त्रियां तथा किसानों की सहधर्मणियां घर संभालती और जीविका के उपार्जन में पुरुष की सहायता भी करती हैं।''[19]

मैत्रेयी परिवार से जुड़ी स्त्री को गढ़ती हैं। 'परिवार' मैत्रेयी की समकालीन लेखिकाओं के उपन्यासों में भी मौजूद हैं। मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' में तो परिवार टूटने के परिणाम को ही सामने चित्रित किया है। पति–पत्नी की असहज स्थिति में बच्चा मनोवैज्ञानिक स्थिति में सजा भुगतता है। ऐसे ही एक परिवार की टूटन प्रभा खेतान के उपन्यास 'पीली आंधी' में मिलती है। संयुक्त परिवार के उजड़ने बसने की तीन पीढ़ियों की कथा इस उपन्यास में मौजूद है। मारवाड़ी परिवार की बहू सोमा को सुरक्षित 'रूँगटा हाउस' छोड़ना पड़ता है। जब पति की नपुंसकता के प्रतिपक्ष के वह मास्टर से प्रेम करके उससे गर्भवती हो जाती है और उस बच्चे को अपने पति का नाम देने से मना करती है तब वह प्रेमी के साथ अलग रहती है। उसका अपने पति से तलाक भी नहीं होता और मास्टर से विवाह भी नहीं होता है। मास्टर पहले से भी विवाहित था। उसकी पत्नी कहीं चली जाती है। लेकिन यहाँ भी सवाल है कि परिवार के टूटने बनने के बीच जो बच्चा है उसकी सामाजिक स्थिति, वैधानिक स्थिति क्या होगी? उपन्यास मारवाड़ी समाज में स्त्रियों की स्थिति पर केन्द्रित है जहां स्त्रियां कोठी की चाहरदीवारी में ही कैद रहने को विवश हैं। यद्यपि ताई जैसी स्त्री यहां भी खिड़की खोलकर आसमान देखती ही हैं लेकिन सोना तो सीधे दरवाजे से ही बाहर चली जाती है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'अन्तर्वशी' की नायिका वाना, बनारस के निम्न मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है जिसका विवाह अमेरिका में नौकरी करते लड़के से हो जाता हे। तब वहां अमेरिकी जीवन से सामंजस्य बिठाती वाना अपने पति से दूर होती राहुल की तरफ खिंचती है। लेकिन वह अपनी 'स्थितियों की नियंता' नहीं है, वह अपने संस्कारों और पति के कर्तव्यों के द्वन्द्वों में ढलती जाती है। राहुल के साथ

जाने का निर्णय लेने से पहले पति को बताना चाहती है। बताने पर पति द्वारा आत्महत्या कर लेने पर वह अपने दोनों बच्चों को लेकर राहुल के साथ आस्ट्रेलिया चली जाती है।

बात चाहे भारतीय समाज की हो, या फिर अमेरिका में बसे भारतीय परिवार की हो। स्त्री द्वारा स्वयं निर्णय का अधिकार मैत्रेयी की स्त्रियां जिस तरह सुरक्षित रखती हैं, उस तरह से निर्णय लेना भारतीय स्त्री के लिए कठिन है बल्कि कुछ स्त्रियों के लिए तो यह असंभव ही हो जाता है। यही है मैत्रेयी की स्त्री चेतना, जहां निम्न वर्ग की स्त्री हो या कुलीन स्त्री वह चेतस है। कुलीन स्त्रियां ही अधिक मजबूती से संस्कारों को पकड़े उन्हें निभाती रहती हैं। जैसा कि 'पीली आंधी' की 'रूँगटा हाऊस' की स्त्रियां निभाती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति कृष्णा सोबती के उपन्यास 'दिलोदानिश' में मिलती है। "बहुनिष्ठ पति या पुरुष अपने संरक्षण में रहने वाली स्त्रियों से एकनिष्ठता की अपेक्षा अपना हक समझता है। और जिस संबंध पर विवाह की मोहर न लगी हो उससे चाहे जब किनारा कर लेने में इसे न कोई संकोच होता है, न अपराध–बोध।"[20]

महानगरीय झुग्गी कालोनी में रहकर कोठियों में काम करके बच्चे पालने वाली अनारो को उपन्यास का केन्द्र बनाया मंजुल भगत ने अपने उपन्यास 'अनारो' में। आर्थिक अभावों और पुरुष अत्याचार को सहकर भी जीने का संघर्ष अनारो करती है किन्तु पति की ब्याहता होने पर गुमान करती है। पति उसे छोड़कर चला जाता है, उसकी कभी कोई मदद नहीं करता, फिर भी अनारो चाहती कि वह कामकाज में उसके साथ रहे। स्त्री आर्थिक स्थिति से तो संघर्ष कर लेती है किन्तु पुरुष की दासता की मानसिक स्वीकृति से संघर्ष नहीं करती।

स्त्री लेखन में स्त्री–चेतना का यह परिदृश्य जिन लेखिकाओं के माध्यम से सामने आता है उनमें महत्त्वपूर्ण नाम हैं– कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्गल,

उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, मंजुल भगत, अलका सरावगी, राजी सेठ, ममता कालिया, मन्नू भंडारी, नासिरा शर्मा और गीतांजलि श्री।

हिन्दी साहित्य में समकालीन स्त्री–लेखन में स्त्री चेतना का यह जो परिदृश्य सामने आता है, उसमें पश्चिम के नारीवाद की गूंज अधिक मिलती है। भारतीय समाज की परिस्थितियों के अनुरूप स्त्री समाज की जो समस्याएँ हैं वे उनमें पूर्ण रूप से चित्रित नहीं हो पातीं। खण्डों–खण्डों में व्यक्त समस्याएँ स्त्री की स्वतंत्रता का जो पक्ष प्रस्तुत करती हैं वहां स्त्री अर्थ–स्वातन्त्र्य अर्जित करने की होड़ में है। इसमें सन्देह नहीं कि वह अर्थ स्वातन्त्र्य अर्जित कर भी लेती है। इस दौरान व्यक्तित्व की बाहरी बनावट तो पूरी हो जाती है लेकिन उसकी तहों में जो टूट–फूट होती है, वह स्त्री–विमर्श में चिंता के केन्द्र में आवश्यक है। स्त्री अर्थ–स्वातन्त्र्य अर्जित करने घर से बाहर निकलती है। बाहरी दुनिया की कठोर प्रकृति से स्त्री अपने कोमल स्वभाव का तालमेल बिठाने और सफल होने की कोशिश में बाजार के चक्रव्यूह में फँसने लगती है। तब जिस आजादी पाने की चाह में घर से बाहर निकली थी, वही उसकी जिन्दगी का फन्दा बनने लगती है। तब स्त्री की छटपटाहट पुनः सुरक्षा और शांति तलाशती है। शहरी जीवन की शिक्षित स्त्रियां स्वावलम्बन की चाह लिए स्वार्थी ओर बाजार की संस्कृति के चक्रव्यूह में फंसती अपनी देह की सुरक्षा के प्रति सशंकित होने लगती है। जो स्त्री अर्थ स्वातन्त्र्य के साथ देह स्वातन्त्र्य की बात करती है वह परिवार की टूटन से भी बेचैन होती है। ऐसी स्थिति में स्त्री सहित पूरे समाज के लिए 'स्त्री–स्वतन्त्रता' सकारात्मक होने की बजाय खतरा बन जाती है। जहाँ स्त्री छली जाती है और वह छला हुआ व्यक्तित्व लेकर रचनाओं में अवसाद ग्रस्त होकर आती है।

'स्त्री स्वतन्त्रता' का यह परिदृश्य न तो भारतीय समाज को मुक्ति का पूर्ण पक्ष प्रस्तुत करता है न भारतीय समाज की स्त्री की मुक्ति का। ठीक से देखा जाए तो

प्रत्येक समाज की अपनी परिस्थितियां, अपने मूल्य होते हैं। भारतीय समाज की परिस्थितियाँ, उसके मूल्य, उसकी संस्कृति पश्चिम के समाज से अलग है। तब 'स्त्री स्वतंत्रता' का ठीक वही स्वरूप भारत में लागू कैसे हो सकता है जो पश्चिम में है? फिर यह भी कि भारतीय समाज में स्त्री की स्वतन्त्रता की बात जिन संदर्भों में महादेवी वर्मा 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में कह रही थीं, वह आज भी भारतीय परिस्थितियों में प्रासंगिक है। भारतीय स्त्री की समस्याएँ एवं उसके मूल्यों के अनुसार 'स्त्री मुक्ति' के रास्तों की जो दिशा महादेवी ने तय की है वही भारतीय संदर्भ में स्त्री–मुक्ति का सही परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। मैत्रेयी पुष्पा, महादेवी के बनाए रास्ते पर ही सृजनशील हैं अतः उनमें वही स्त्री–चेतना मौजूद है जिसकी आज के समाज को जरूरत है। आलोचक अरविंद त्रिपाठी के शब्दों में– "अपने परिवेश की समग्र पहचान की कला मैत्रेयी के पास है। जाहिर है उनका हस्तक्षेप हिन्दी में महिला लेखन के लिए एक सबक और माडल दोनों है। कम से कम बीसवीं सदी के अंत तक आते–आते महिला कथालेखन में वह मोड़ अब आ गया है जिसकी आजादी के बाद से प्रतीक्षा थी।"[21]

संदर्भ सूची :

1. महादेवी, महादेवी समग्र (भाग–3), सम्पादन– निर्मला जैन, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ0–226
2. मैनेजर पाण्डेय, तद्भव (अंक–3), लेख 'श्रृंखला की कड़िया और मुक्ति की राहें, पृ0–93
3. वही, पृ0–93
4. वही, पृ0–299
5. चाक, पृ0 132

6. वही, पृ0–234–235

7. महादेवी समग्र (भाग–3), सम्पादन– निर्मला जैन, पृ0–368

8. वही, पृ0–369

9. वही, पृ0–393

10. चाक, पृ0–345

11. महादेवी समग्र, पृ0 301

12. वही, पृ0–335

13. वही, पृ0–340

14. वही, पृ0–369

15. वही, पृ0–302

16. चाक, पृ0–100

17. इदन्नमम, पृ0–175

18. महादेवी समग्र, पृ0–344

19. निर्मला जैन, कथाक्रम, अक्टूबर–दिसम्बर, 2000, पृ0–42

20. निर्मला जैन, कथाक्रम, अक्टूबर–दिसम्बर, 2000, पृ0–47,

21. अरविन्द त्रिपाठी, कथाक्रम, जुलाई 99 , पृ० - 47,

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय पुरुष प्रधान समाज में दोयम दर्जे का जीवन जीती स्त्रियां जब आत्मसजग होने लगीं और इसकी अभिव्यक्ति लेखन के माध्यम से साहित्य में करने लगीं, तब से साहित्य में 'स्त्री चेतना' शब्द अस्तित्व में है। अपनी दासता की पीड़ा के साथ मुक्ति की आकांक्षा की छटपटाहट और स्वयं रास्ते भी तलाश लेने वाली 'स्त्री लेखिका बनकर अपना ऐसा स्वतंत्र संसार गढ़ने लगी, जहाँ वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व के साथ जी सकें। मध्यकालीन युग में मीराबाई एवं अन्य कवयित्रियां भक्ति के माध्यम से यह रास्ता तलाश रहीं थी तो उन्नीसवीं सदी में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान स्त्रियां 'स्त्री दर्पण', 'गृहलक्ष्मी', 'चाँद' जैसी पत्रिकाओं में अपनी समस्याएँ लिख रही थी। (1939 में महादेवी ने अपने निबंधों में स्त्री की चिंता की, जिसमें पर्दाप्रथा, स्त्रीशिक्षा, विधवा दुर्दशा तथा विवाहित स्त्रियों की समस्याओं पर चिंता की।) फिर उपन्यास, कहानी के माध्यम से ऐसी गढ़ी हुई स्त्रियां सामने आई जो अपना रास्ता स्वयं चुनती जा रही थी। आजादी की बाद की लेखिकाएँ 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' वाली स्त्री को अपनी रचनाओं में उतार रही थी जो पश्चिम से आती फेमिनिज्म की लहर से भी प्रभावित थी। स्त्री देहमुक्ति की बात कर रही थी। आर्थिक स्वतंत्रता के पहलू और परिवार की टूटन के परिणाम सामने आये। धीरे–धीरे स्त्री अपनी ही स्वतंत्रता की तलाश में गड्ड–मड्ड होने लगी। स्त्री जहाँ आजादी को तलाश रही थी, वहां मृगमरीचिका बनने लगी। तब साहित्य की स्त्रियां अपनी स्वतंत्रता के लिए तीखे तेवर तो रखती लेकिन प्राप्त हो रही आजादी से वे सन्तुष्ट नहीं हो पातीं। ये स्त्रियां केवल

शहरी जीवन तक सीमित रहीं। ये उस भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती जो ग्रामीण जीवन की छवि साथ लिए चलता है।

भारत गांवों का देश है। यहां शहरों में रहने वाले लोग भी ग्रामीण पृष्ठभूमि को साथ लिए स्त्रियों के प्रति सामंती दृष्टि ही रखते हैं। तब साहित्य में केवल शहरी स्त्रियों की मौजूदगी और वह भी स्वतंत्रता की ऐसी राह जहां स्त्री स्वयं सन्तुष्ट न हो सके। इस बात ने कुछ नया होने और स्वीकार होने का रास्ता खोल दिया। तब नवें दशक में मैत्रेयी का हिन्दी साहित्य में आगमन 'धूमकेतु' (राजेन्द्र यादव) की तरह हुआ। मैत्रेयी ग्रामीण पृष्ठभूमि में स्त्री जीवन जीते हुए उन विद्रूपताओं को सामने लाती हैं जहां स्त्री के लिए गांव और शहर से अंतर नहीं पड़ता। उसके लिए तो पुरुष प्रधान समाज सदा ही पग–पग पर बबूल के कांटे उगाये रहता है। मैत्रेयी ने अपनी कथाओं में न केवल ग्रामीण परिवेश की विद्रूपताओं को चित्रित किया बल्कि स्त्री जीवन के संकटों को भी सामने प्रस्तुत किया। वह विधवा स्त्री, अविवाहित स्त्री, और व्याहता औरत के जीवन के यथार्थ को सामने लायी । जहां पुरुष के लिए औरत पांव की जूती और वस्तु से ज्यादा कुछ भी नहीं। इस सबके साथ ही मैत्रेयी ने ऐसी स्त्री गढ़ी जो अपनी मुश्किलों से हार नहीं मानती। वह स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए संघर्ष करती है। न केवल अपनी मुक्ति चाहती है, बल्कि पूरे स्त्री समाज की मुक्ति की छटपटाहट उस स्त्री में मौजूद है। और धीरे–धीरे मैत्रेयी ऐसी स्त्री गढ़ देती है जो अपने नैसर्गिक अधिकार, साम्पत्तिक आधिकार, और राजनैतिक अधिकारों की मांग करती हैं। साथ ही वह पूरे समाज की मुक्ति की चिन्ता भी करती हैं। बच्चों की चिन्ता करके समाज के भविष्य निर्माण की चिन्ता भी यह स्त्री करती है। मैत्रेयी की सभी स्त्रियां स्थितियों को यूं ही स्वीकार नहीं लेती और रोती सुबकती जीवन व्यतीत नहीं करती। वे अपने संकटों की झाड़ियों को अपने–अपने ढंग से काटती, अपना रास्ता तलाशती हैं। मैत्रेयी ने शिक्षा को विकास हेतु महत्वपूर्ण माना जिसका पक्ष उपन्यास 'चाक' में प्रस्तुत है। सारंगनैनी को गांव में फैले भ्रष्टाचार, स्वार्थ आदि की बुराईयों की जड़ में अशिक्षा ही नजर आती है। तभी वह अपने बेटे की शिक्षा के लिए

अन्त तक चिन्तित रहती है। श्रीधर मास्टर भी स्त्रियों की दशा में सुधार के लिए पहले पुरुषों को शिक्षा देने की बात कहते हैं। शिक्षा की चिन्ता के साथ स्त्रियों की स्थिति के प्रति आत्मसजगता मैत्रेयी के स्त्री चिंतन में मिलता है, भले ही वह स्त्री शिक्षित हो या न हो। शिक्षित स्त्री, जैसे डॉ0 नेहा (विजन) भले ही पुरुषसत्ताक व्यवस्था के विधान को सहज ही तोड़ नहीं पाती है, किन्तु उसके भीतर हमेशा आभा दी और अतीत का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व मौजूद रहता है। ऐसे ही अशिक्षित ग्रामीण स्त्रियां जैसे कलावती, गुलकन्दी, लौंगसिरी बीबी, रेशम, कुसुमा इत्यादि स्त्रियों में अपनी स्थितियों के प्रति सजगता मौजूद मिलती है।

मैत्रेयी अपनी रचनाओं में पूरी सामाजिक व्यवस्था, खोखली कानून और न्याय व्यवस्था, पुलिस व्यवस्था, चिकित्सा तन्त्र और भ्रष्ट शिक्षातंत्र की विद्रूपताओं का खुलासा करती हुई उन पर तीखा प्रहार करती हैं। इन आधुनिक समस्याओं से जूझते हुए ही मैत्रेयी अपनी कथाओं को भारतीय समाज के लोकरंग में रंगती चलती हैं। लोकगीत, लोककथा, पहेलियों आदि का मैत्रेयी अपनी कथाओं में रचनात्मक उपयोग करती है। मैत्रेयी तीज, त्यौहार, संस्कारों में आधुनिक अर्थ भर कर सामने लाती हैं। गीत, वाद्य तथा नृत्य के साथ पूरे रासरंग से सराबोर मिलती हैं उनकी रचनाएँ, जहां भारतीय समाज का पूरा जीवंत चित्र दिखाई देता है।

अब रही बात स्त्री–चेतना की, तो मैत्रेयी की स्त्री रूढ़ियों, मिथकों को तोड़ती चार कदम आगे बढ़ती है तो जीवन संकट के डर से दो कदम पीछे खींच लेती है। और इस तरह अपनी स्वतंत्रता की राह का रास्ता तय करती है। मैत्रेयी की गंवई स्त्री अपने पूरे ग्रामीण परिवेश में रची–बसी सामने आती है और भारतीय समाज के अनुरूप 'परिवार' हमेशा उसकी प्राथमिकताओं में रहता है। लेकिन स्त्री अपने नैसर्गिक, साम्पत्तिक ओर राजनैतिक अधिकारों के प्रति कोई समझौता नहीं चाहती। वह बेबाक बोलती हुई अपने अधिकारों की मांग करती हैं।

मैत्रेयी की रचनाओं में अपने परिवेश में जीवन्त पात्र मौजूद हैं, जो अपनी स्थिति के अनुकूल भाषा बोलते हैं। भाषा का गंवई मुहावरा गढ़ती मैत्रेयी ग्रामीण परिवेश के पात्रों से गंवई भाषा बुलवाती हैं, साथ ही पूरा का पूरा परिवेश भी ग्रामीण चित्रित करती हैं। शहरी परिवेश के पात्र जैसे 'विजन' के पात्र अंग्रेजी भी बोलते हैं। साथ ही मैत्रेयी रोचक किस्सागोई शैली में अपनी कथा का बयान करती हैं। फ्लैशबैक पद्धति, पूर्वानुमान का प्रयोग कथा संरचना में करती है।

बावजूद इन विशेषताओं के कि वे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाओं को रचने वाली लेखिका हैं, मैत्रेयी को साहित्यिक धरातल पर उपेक्षाएं मिली। इस सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव का कथन है "महाश्वेता देवी को अपने आरंभिक दिनों में फूहड़, अनगढ़, गंवारू पात्रों और दलितों, आदिवासियों के जीवन पर लिखने के चलते आलोचकों और कलात्मक रचनाकारों के जो हमले सहने पड़े, उन्हें नहीं भूलना चाहिए।. . . . वही इतिहास लगभग उसी तरह मैत्रेयी के साथ हिन्दी में घटित हो रहा है।" (आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ 234)

भले राजेन्द्र यादव मैत्रेयी की रचनाओं की पठनीयता की प्रशंसा करते रहें और सचमुच उनकी रचनाओं के संस्करण तेजी से बिकते रहें, तब भी आलोचक निर्मला जैन उनकी पठनीयता को भी प्रश्नचिन्हित करने से नहीं चूंकती। (कथा प्रसंग : यथा प्रसंग) कहने का तात्पर्य यह है कि भले ही कुछ लोग रचनाओं की पठनीयता पर संदेह करते रहें, पर बहुत सारे पाठक वही रचनाएं पढ़ रहे हैं और इसी का प्रमाण है कि मैत्रेयी आज सर्वाधिक चर्चित हैं। इसके प्रमाण में स्वयं स्त्री लेखिकाएं ही लगातार उन पर कुछ–न–कुछ लिखती जा रही हैं।

सवाल यह है कि सर्वाधिक चर्चित हो जाने भर से ही क्या उनकी रचनाओं को साहित्यिक धरातल पर वह स्थान मिल सकेगा, जो उन्हें मिलना चाहिए? दरअसल इस हेतु आवश्यक है प्रौढ़, प्रबुद्ध, न्यायप्रिय आलोच्य दृष्टि, जो आलोचक या पाठक किसी में भी हो सकती है।

वर्तमान समय की मांग के अनुरूप समाज की दिशा स्त्री विमर्श को तूल देकर 'स्त्री सशक्तिकरण वर्ष' मना रही है, वहां मैत्रेयी अपनी रचनाओं में प्रत्येक कोण से ऐसा स्त्री विमर्श सामने लाती हैं जो हमारे समाज के लिए उपयुक्त हैं। भले ही उसे नैतिक–अनैतिक घेरे में खड़ा कर दिया जाए, लेकिन गहराई में जाने पर वह मानवाधिकार का समर्थन प्राप्त कर सकेगा।

प्रस्तुत लघु शोधकार्य की आधार कृति 'चाक' इस कसौटी पर खरी उतरती है। विषयगत सीमाओं से परे जाकर इस उपन्यास में सामाजिक व्यवस्था की खुलती पोलों और पुरुष की दमनात्मक तथा गढ़ी गई सकारात्मक छवि को लेकर शोध–कार्य किया जा सकता है। और 'मैत्रेयी पुष्पा के पूरे साहित्य का हिन्दी साहित्य में स्थान : वर्तमान और भविष्य' जैसे विषयों पर भी शोध–कार्य हो सकता है।

अंत में, सिर्फ इतना कि भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में मैत्रेयी की रचनाएँ मानवीय अधिकारों की पक्षधर हैं तथा स्त्री–चेतना उनमें केन्द्र से परिधि तक मौजूद है।

⌫

ग्रंथानुक्रमणिका

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार ग्रन्थ :

1. चाक — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

मैत्रेयी पुष्पा के अन्य उपन्यास :

2. अगनपाखी — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
3. अल्मा कबूतरी — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
4. इदन्नमम — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
5. कस्तूरी कुंडलि बसै — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
6. झूलानट — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
7. बेतवा बहती रही, — मैत्रेयी पुष्पा — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
8. विजन — मैत्रेयी पुष्पा, — वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
9. गोमा हँसती है — मैत्रेयी पुष्पा — किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
10. चिन्हार — मैत्रेयी पुष्पा — किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991
11. ललमुनिया — मैत्रेयी पुष्पा — केताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

अन्य उपन्यास :

12.	अन्तर्वंशी	उषा प्रियंवदा	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
13.	अनारो	मंजुल भगत	राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1985
14.	आवां	चित्रा मुद्गल	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
15.	आपका बंटी	मन्नू भंडारी	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971
16.	कठगुलाब	मृदुला गर्ग	भारतीय ज्ञानपीठ इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक–2000
17.	छिन्नमस्ता	प्रभा खेतान	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
18.	तत्सम	राजी सेठ	
19.	दिलो दानिश	कृष्णा सोबती	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
20.	पचपन खंभे लाल दीवारें	उषा प्रियंवदा	
21.	पीली आंधी	प्रभा खेतान	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
22.	बेघर	ममता कालिया	
23.	बहू जुठाई	रमणिका गुप्ता	नवलेखन हजारीबाग, 998
24.	माई	गीतांजलि श्री	

25.	मित्रो मरजानी	कृष्णा सोबती	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984
26.	शेष कादम्बरी	अलका सरावगी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
27.	सूरजमुखी अंधेरे के	कृष्णा सोबती	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

अन्य पुस्तकें

28.	अपना कमरा	वर्जीनिया वुल्फ	संवाद प्रकाशन, मुंबई, मेरठ, 2002
29.	अश्लीलता का हमला	राजकिशोर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
30.	आदमी की निगाह में औरत	राजेंद्र यादव	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
31.	औरत : अस्तित्व और अस्मिता	अरविंद जैन	सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2000
32.	औरत के हक में	तसलीमा नसरीन	
33.	औरत होने की सजा	अरविन्द जैन	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
34.	कथा प्रसंग : यथाप्रसंग	निर्मला जैन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
35.	दुर्ग द्वार पर दस्तक	कात्यायनी	परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 1997
36.	नारीवादी राजनीति संघर्ष और मुद्दे,	संपा0 जिनी लोक नीता, साधना आर्य,निवेदिता मेनन	हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, 2001

37.	भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य	मैनेजर पाण्डेय,	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
38.	भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं का योगदान	एस.एन. नागोरी, कान्ता नागोरी	सुरभि पब्लिकेशन, जयपुर, 1997
39.	राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य	डॉ0 वीर भारत तलवार	हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1993
40.	रेणु रचनावली (भाग–1)	सं0–भारत यायावर	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995
41.	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका	मैनेजर पांडेय	हरियाणा साहित्य अकादमी, हरियाणा, 1989
42.	स्त्री उपेक्षिता	सीमोन द बोउवार अनु. प्रभा खेतान	हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1998
43.	स्त्रीत्व का मानचित्र	अनामिका	सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2001
44.	स्त्रियों की पराधीनता	जान स्टुअर्ट मिल अनु. प्रगति सक्सेना	संवाद प्रकाशन, मुंबई, 2002
45.	स्त्री के लिए जगह	राजकिशोर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
46.	स्त्री परंपरा और आधुनिकता	राजकिशोर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
47.	स्त्रीवादी साहित्य विमर्श	जगदीश्वर चतुर्वेदी	अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 2000
48.	हिन्दी उपन्यास का विकास	मधुरेश	सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001
49.	महादेवी समग्र (भाग–3)	सं0–निर्मला जैन	2002

50.	महिलाएँ और स्वराज्य	आशारानी वोहगा	सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, 1988
51.	मैं और मेरा समय	नीलाभ	उपासना प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

पत्रिकाएँ :

1.	आजकल	अप्रैल 1998
2.	आलोचना	अंक 7–8, अक्टूबर–दिसम्बर / जनवरी–मार्च
3.	इंडिया टुडे	साहित्य वार्षिकी, 2002
4.	कथाक्रम	अक्टूबर–दिसम्बर, 2000
5.	कथादेश	1 मार्च 1998
6.	कसौटी	तीसरा अंक, अक्टूबर–दिसम्बर, 1999
7.	कसौटी	नौवां और दसवां अंक
8.	तद्भव	तीसरा और पांचवा अंक
9.	पल–प्रतिपल	अक्टूबर–दिसम्बर, 1998
10.	पश्यंती	जनवरी–मार्च, 1998
11.	पुस्तक वार्ता	(1) नवम्बर–दिसम्बर, 2001 (2) मई–जून, 2002
12.	पूर्वाग्रह	
13.	वर्तमान साहित्य	शताब्दी कथा विशेषांक, जनवरी–फरवरी, 2000
14.	समकालीन जनमत	जनवरी–मार्च, 2002
15.	समकालीन भारतीय साहित्य	(1) अक्टूबर–दिसम्बर, 1994, (2) सितम्बर–अक्टूबर, 1999
16.	समयांतर	फरवरी 2001
17.	संधान	अक्टूबर–दिसम्बर, 2001

18. संवेद

19. साहित्य अमृत — 2001

20. साक्षात्कार — (1) जुलाई–अगस्त, 1996,
(2) फरवरी, 1998,
(3) 200 वां अंक

21. समीक्षा — अक्टूबर, 1997

22. हंस विशेषांक — (1) अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, खण्ड–1, 2 अंक–जनवरी, फरवरी, मार्च, 2000,
(2) स्त्री भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप : अंक मार्च 2001

23. हंस — 1. जुलाई, 1994
2. जनवरी–फरवरी, 2000
3. मार्च, 2000
4. दिसम्बर, 1997
5. अक्टूबर, 1994
6. जुलाई, 1998
7. मार्च 2001
8. जनवरी 1999
9. अप्रैल 2002
10. फरवरी 1997
11. फरवरी 1991
12. अगस्त 2000

24. राष्ट्रीय सहारा — 15 अप्रैल, 2002, 22 अगस्त, 1998

25. जनसत्ता — 30 अगस्त, 1998